अखण्ड महायोग

(प्रथम भाग)

विषयानुक्रमणिका

—:०:—

मूल लेखक

महातंत्रयोगी महामहोपाध्याय डा० पं० गोपीनाथ जी कविराज

अनुवाद एवं व्याख्या

एस० एन० खण्डेलवाल

प्रकाशक

दादा सीताराम

अखण्ड महायोग संघ

डी ५८/२ ए, कविराज भवन

सिगरा, वाराणसी

मुद्रक—

श्री बैजनाथ प्रसाद

कल्पना प्रेस

वाराणसी

★

अनुवादक का निवेदन

जिसमें विपर्यय का आच्छादन नहीं, जिस प्रज्ञालोक में समस्त पदार्थ समूह स्फुटरूपेण प्रतिभासित होते हैं, उस ऋतंभरा प्रज्ञा में ही वास्तविक तत्व दर्शन सम्भव है। यह तत्वदर्शन वास्तव में प्रज्ञा का विकास है। प्रज्ञा अपनी विकसित स्थिति में करुणा से अभिन्न हो जाती है। शुद्ध प्रज्ञा के विकास द्वारा प्राणिमात्र के दुःख से हृदय विगलित हो उठता है। शुद्ध प्रज्ञा क्रमविकास द्वारा धर्मावलम्बन करुणा का रूप ग्रहण करती है। इसमें किसी के दुःख दर्शन द्वारा करुणा का उद्रेक नहीं होता। अपितु जगत् का अनित्यत्व ही करुणा का विकास करता है। तत्पश्चात् प्रज्ञा पारमिता का उदय होने पर दुःख, अनित्यत्व आदि उद्दीपक कर्म की भी आवश्यकता नहीं होती। जो सर्वत्र कुशलमूल का दर्शन करते हैं, उनमें स्वतः महाकरुणा का श्रोत उमड़ उठता है। इस स्थिति में अधिकारी-अनधिकारी साधक-असाधक, सुकृति-दुष्कृति, प्रभृति भेद का दर्शन नहीं रहता। तब प्राणिमात्र की मंगल कामना अहैतुक रूप से हृदय की गहराई से उठती है। वास्तव में यही यथार्थ मनुष्यत्व है।

वेदों में, पौराणिक आख्यानों में, विश्वविश्रुत संत, मनीषी, तत्वदर्शी एवं भावभक्तिमार्गी भक्तों की कृतियों में, सर्वत्र समभाव से प्राणिमात्र की मंगल कामना की अन्तर्निहित गुंजन सी अनुभूत होती है। विभिन्न पंथ, दार्शनिक विचारधारा, मतमतांतर, धर्म इस सम्बन्ध में एकमत हैं। परमेश्वर को करुणावरुणालय, कृपासिन्धु आदि संज्ञाओं से सम्बोधित किया गया है। जो जितना पर दुःखकातर होगा, जिसका हृदय क्षुद्र 'स्व' का सीमोल्लंघन कर समष्टि 'स्व' के लिये जितना अधिक समर्पित है, उसमें उसी मात्रा में मनुष्यत्व में देवत्व का प्रकाश है। अथवा देवगण भी इसी कारण मनुष्यत्व की प्राप्ति के लिये लालायित हैं, यह भी कहा जा सकता है।

मनुष्यत्व की प्राप्ति के लिये तत्वदर्शन की महनीय उपयोगिता सर्वविदित है। विस्तारार्थक तन् धातु से तत् शब्द निष्पन्न है। जो वितत है, विस्तीर्ण है वही तत्व है। श्रुति ने सर्वकार्य कारण, स्वय अकारण परमसत्ता को तत् शब्द द्वारा इंगित किया है। प्रत्यक्ष देदीप्यमान नामरूपात्मक जगत् की उपलब्धि से पूर्व नामरूप-विवर्जित सर्वव्यापी परब्रह्म थे, इस समय भी वे तद्रूप विद्यमान है। इनका सम्यक् दर्शन ही तत्वदर्शन हैं (पंचदशी)। जिन्होंने तत्वदर्शन किया है वे ही आप्त पुरुष हैं। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के मतानुसार जो धर्म या पदार्थ का साक्षात्कार करते है, उसका अवधारण सुदृढ़प्रमाण द्वारा करते हैं, जो यथादृष्ट पदार्थ ख्यापनेच्छावशतः

यथादृष्ट यथार्थ तत्व को उपदेश द्वारा बताने की इच्छा रखते हैं ऐसे वाक्प्रयोग कृतयत्न, उपदेश सामर्थ्ययुक्त पुरुष "आप्त" हैं।

किसी भी पदार्थ का तत्व स्थूल प्रत्यक्ष द्वारा अवधारित नहीं होता। पदार्थ मात्र का स्वरूप स्थूलप्रत्यक्ष का विषय नहीं। कार्य स्थूलप्रत्यक्ष है। कार्य की कारणानुत्संधित्सा ही सूक्ष्मप्रत्यक्ष है। यही यथार्थ दर्शन है। विद्वान जानविच कहते हैं "कार्य का कारणानुसंधान दर्शन शास्त्र का उद्देश्य है। कार्य का कारणानुसंधान करते करते परम कारण को पाना होगा तभी अनुत्संधित्सा विनिवृत्त होगी।" अतः जो करणानुसन्धान करने में समर्थ हैं वे ही दार्शनिक हैं।

"अखण्ड महायोग" स्वनामधन्य महातंत्रयोगी महामहोपाध्याय डा० पं० गोपीनाथ जी कविराज की महाकरुणा का अजस्र निर्झर है। यह है उनके मनुष्यत्व की सुगन्धित बयार। अथवा यही है उनकी प्रकृत् दार्शनिक वृत्ति का कारणानुसन्धान रूपी तत्वदर्शन। इससे ध्वनित होता है वह आप्तोपदेश—जो तत्वदर्शी की प्रोज्वल प्रज्ञा में समुद्भासित होकर अखण्ड महायोग के रूप में जन-जन का गन्तव्य पथ अपनी आभा से आलोकित कर रहा है।

कविराज जी यथार्थतः क्रांतदर्शी थे। क्रान्तदर्शी अर्थात् व्यापक दृष्टि सम्पन्न, अतीत एवं अनागत प्रत्यक्ष में समर्थ। कवि अर्थात् "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंम्भू।" जो देखते हैं, जानते है, वे ही कवि हैं। जो प्रकाश करने में समर्थ हैं वे कवि हैं। उनकी काव्यमयी वाणी, आज भी अमरधाम से अपना सन्देश प्रसारित कर रही है। वह सन्देश है "अखण्ड महायोग।"

कह चुका हूँ क्रान्तिदर्शी की दृष्टि अवाधित होती है। उसके समक्ष अतीत एवं अनागत, नित्य वर्तमान रूप से प्रकाशित होते हैं। देशकाल से अनवच्छिन्न प्रतिभा में सुदूर भविष्यत् का चित्र नित्य वर्तमान भूमि के पट पर अंकित होता रहता है। काल के राज्य में अथवा महाकाल राज्य की सीमारेखा पर भी जिस दृश्य का उदय नहीं हुआ है, उसके दर्शन में चित्त अथवा शरीर की कोई उपयोगिता नहीं है। महर्षि पतंजलि कहते हैं "अनागत भी वस्तुतः वर्तमान से भिन्न नहीं।" हमारे लिये अनागत भूमि में स्थित घटना व्यापक प्रज्ञा सम्पन्न प्रतिभाशाली के लिये वर्तमान रूप है। यही पूर्ण ज्ञान भूमि है। कविराज जी ने इसी पूर्ण ज्ञान भूमि में स्थित होकर "अखण्ड महायोग" के माध्यम से आसन्न भविष्यत् के महान् परिवर्तन का संकेत दिया है। यह परिवर्तन अवश्यम्भावी है। मानव मात्र को इस कण-कण व्यापी परिवर्तन के लिये अभी से तैयार रहना है। यही इस पुस्तक प्रणयन का उद्देश्य है।

मृत्यु अमृतत्व के क्रोड़ में विद्यमान है। अमृत या अपरिणामी भाव के क्रोड़ में परिणामीभाव क्रीड़ा, नृत्य, हास्य, क्रन्दन करता है। श्रान्त होने पर शिशु के समान

निद्रित होता है। परिणाम ही मृत्यु स्वरूप है। मृत्यु प्रथम जात् है। तैत्तरीय श्रुति ने इस सत्य का उल्लेख किया। मृत्यु का अतिक्रम करने पर भी महामृत्यु का अवसान नहीं होता। किंचित परिणामी भाव तब भी अवस्थित रहता है। अमरगण भी मृत्यु का अनुगमन करते हैं। कठोपनिषद् में नचिकेता मृत्यु संवाद से यह ध्वनित होता है कि यम भी मृत्यु का अतिक्रमण नहीं कर सके। वेद ने मृत्यु एवं अमृत—दोनों को प्राण रूप कहा है। यह प्राण व्यष्टि एवं समष्टि उभय भेद से उपलब्ध है। समष्टि की संकुचित अवस्था व्यष्टि है। इसी व्यष्टि का विकास होने पर समष्टि की उपलब्धि होती है। यह समष्टि प्राण ही समष्टि मृत्यु का, काल का, विनाश कर सकेगा। प्रकारान्तर से मन का एक अंश (प्राण) आलोक में है। अन्य सत्ता अन्धकार में रह गई है, जिसका नाम काल का मन है। काल की कलना मन से होती है, किन्तु अन्धकार (काल) स्थित मन अचेतन मन है। इस अचेतन मन में चेतना का संचार होने पर मनुष्य आत्महारा नहीं होगा। आसन्न परिवर्तन के कराल क्षण में वह बोध युक्त रहेगा। प्रकाशस्थित (प्राणस्थित) बोध से काल (अन्धकार) स्थित मन रूपी बोध का मिलन होने पर ही समष्टि मन की उपलब्धि होगी। समष्टि मन एवं समष्टि प्राण का मिलन ही महायोग है। यही है प्रकृत सामरस्य। यह महामिलन अभी तक काल के प्रभाव वश नहीं हो सका। काल के समूल नाश के पश्चात् यह महायोग, महासामरस्य अथवा महामिलन अनुभूत होगा।

इस सत्य की धारणा सब के द्वारा संभव नहीं। जिनका आकर्षण सर्वभूत में समरस है, जिनका प्रेम विश्वव्यापक है, जिन्होंने आत्मा में सर्वभूत एवं सर्वभूत में आत्मा का निरीक्षण किया है, जिनकी गति अव्याहत है, वे ही इस सत्य की धारणा करने में समर्थ हैं। अन्य को यह ग्रंथ केवल शब्द विन्यासमय अथवा आकाश कुसुमवत् प्रतीत होगा। परिच्छिन्न भाव से इसकी अवधारणा संभव नहीं। जो उदारचेता हैं, जिन्होंने स्वल्पात्मकता का परित्याग कर सर्वात्मकता का किंचित आस्वादन किया है, वे इस सार्वभौम अखण्ड सत्य को चरमसत्य रूप से ग्रहण कर सकेंगे।

कविराज जी ने अव्यक्त-अव्याकृत अवस्था से अन्धकार (काल) एवं प्राण (आलोक) की उत्पत्ति का उल्लेख किया है। पुराणों एवं अन्य ग्रंथों में भी ऐसा उल्लेख मिलता है। सूर्यसिद्धान्त के अनुसार अव्यक्त परमपुरुष, अव्यय एवं निर्गुण है। वही जगत् का उपादान स्वरूप है। इन्होंने आदि सृष्टि हेतु वीर्य निक्षेप किया। जो अन्धकार में घिरी हुई एक सुवर्णमय अण्डाकृति में परिणत हुआ। इस स्वर्ण अण्ड का अभिमानी ही समष्टि मन है। आदि होने के कारण आदित्य भी है। (द्रष्टव्य सूर्यसिद्धान्त द्वादश अध्याय) समष्टिमन ही परमपुरुष हिरण्यगर्भ है

"समष्टिभावापन्न मन एव परम पुरुषो हिरण्यगर्भः" (योवा० टीका) ऋग्वेद में जो हिरण्यगर्भ है—वही विश्वप्राण, विश्वमन है। इस विश्वमन (समष्टिमन) को निजस्वः कर सकने से सतत् परिणामीभाव (मृत्यु) का अवसान होगा। समस्त वैषम्य निवृत्त होंगे। असीम समतानन्द का उद्रेक होगा। दार्शनिक हर्वर्ट स्पेन्सर के अनुसार साम्यावस्था ही परिणाम की अन्त्य सीमा है।

कविराज जी के अनुसार विशुद्धसत्ता का अवतरण हो चुका है। काल नाशक कर्म की परिसमाप्ति भी हो चुकी है। शेष है प्रत्येक व्यष्टि में इसका अवतरण। यह कर्म है मात्र "मां" को पुकारना। यथासाध्य शिशुभाव की प्राप्ति से ही "मां" को पुकारना सम्भव है। शिशुभाव का उद्बोधन ही अखण्ड महायोग की कर्म साधना है। एक प्राचीन उक्ति का उल्लेख करता हूँ।

"Except ye become as little as children ye can not enter into the kingdom of God"

(Ralph Trine)

चिन्मय राज्य में प्रवेश के लिये शिशु की पुकार ही एकमात्र साधन है। कृत्रिम शिशुभाव की अपेक्षा प्रकृत शिशुभाव श्रेयस्कर है। शिशु भूमिष्ट होते ही इस तत्व समूह सम्पन्न असीम परिव्याप्ति में एकमात्र मां के लिये रुदन करता है। यही है "मां" को पुकारना। अखण्ड महायोग द्वारा इसकी शिक्षा दी गई है। कविराज जी कहते हैं जब राशि राशि मानव शिशुभावापन्न हो "मां" को पुकारेंगे तभी मां का अवतरण होगा। एक ही ध्येय से प्रेरित असंख्य आत्माओं के समवेत कर्म से सब कुछ संभव है। विद्वान ए० रमी भी कहते हैं।

"When many men pray for one object, the purpose of many persons is directed to one end, and all combine in heart and will obtain the desired object."

कविराज जी के अनुसार भविष्यत् सृष्टि की प्रधान शोभा है अमरत्व। अमरत्व ही स्वर्ग का गुण है। उस सृष्टि में उदित सूर्य कभी असतोन्मुख नहीं होगा। वह शाश्वत राज्य इस दुःखभरी सृष्टि का एकमात्र निराकरण है। हम सबको इस शुभ घड़ी के लिये मन प्राण से प्रतीक्षा करनी है। तत्वदर्शी कहते हैं

Eternity makes heaven to be heaven. It is the diamond in the ring : 'O' blessed day, that shall have no night; the sun light of glory never set ! 'O' blessed spring ! that shall have no autumn or fall of the leaf".

× × ×

स्थानाभावनशतः अनेक विषयों पर प्रकाश संभव न हो सका। श्रद्धापूर्ण दृष्टिकोण से मनन कर सकने पर महायोगी कविराज जी की कृपा से स्वयमेव समस्त प्रश्नों का उत्तर प्राप्त होगा इसमें संदेह नहीं। यह परमतत्व परमास्थिति का वर्णन है। समस्त देश एवं काल में महापुरुषगण भी इस सम्बन्ध में डर-डर कर चर्चा करते हैं। वेद भी चकित होकर उनकी चर्चा करते हैं :—

"अतद्व्यावृत्या यं चकित मभिधत्ते श्रुतिरपि" अतः इस विषय पर विशेष प्रगल्भता प्रदर्शन अनधिकृत चेष्टा होगी। संक्षेप में "मां" ही क्षण है एवं क्षण ही "मां" है। एकमात्र "क्षण" ही समस्त विश्व का संघटन कर रहा है। जब तक क्षण में क्रमाभास है तब तक परिणाम है, जन्म मृत्यु है। क्षणदर्शन से क्रमाभास का, काल का अवसान होगा। तभी अमर राज्य की स्थापना होगी। काल वस्तुतः क्षण का क्रम है। क्षण वास्तविक है किन्तु काल है बुद्धिकल्पित। क्षण क्रम से बुद्धि में काल का उदय होता है। पंतजलि के अनुसार क्षण एवं क्षण क्रम पर संयम करने से विवेकज ज्ञान का उदय होगा। कविराज जी ने इससे भी महनीय आदर्श उपस्थित किया है। उनके अनुसार ज्ञान द्वारा काल का अवसान होने पर भी महाकाल की क्रीड़ा शेष रहती है। इस क्रीड़ा को निःशेष करने के लिये भाव का उदय आवश्यक है। भाव द्वारा क्षण आयत्त होता है। अर्थात् शिशुभाव अवलंवन द्वारा क्षण रूपी मां की विश्रांतिमयी गोद में अवस्थान। यह स्थिति विवेकज ज्ञान द्वारा नहीं प्राप्त होती। यही चिर विश्रांति है, इस स्थिति का समस्त सृष्टि में उन्मेष होगा। हम सबको इस नवोन्मेष का साक्षी बनने हेतु योग्यता अर्जित करनी है।

× × ×

प्रस्तुत ग्रंथ में यत्र-तत्र देवता का उल्लेख मिलता है। विचारणीय है देवता क्या है? दिव धातु के उत्तर में अच् प्रत्यय लगाने से देवपद सिद्ध होता है। पुनः देवपद के उत्तर में तल प्रत्यय से देवता निष्पन्न होता है। दिव धातु का अर्थ है क्रीड़ा, विजीगिषा, व्यापार (कर्म), द्युति, स्तुति, मोद (हर्ष), मद, स्वप्न, कान्ति एवं गति। आचार्य यास्क के मतानुसार जो ऐश्वर्य दान करते हैं वे ही देवता हैं। जो अभिमत इप्सित, प्रयोजनीय प्रदान करते हैं, द्युलोक में रहते हैं वे देवता हैं। कात्यायन के अनुसार ऋषिगण जिनका गान करते हैं वे ही देवगण हैं।

देवगण अनन्त हैं। उनके प्रतिनिधि मुख्य देवता की संख्या ३१ है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, प्रजापति एवं वषट् कार—ये तैंतीस देवता हैं। शतपथ ब्राह्मण में अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र एवं प्रजापति को देवता माना गया है। इनका निर्देश निम्नांकित है :—

अष्ट वसु = अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, स्वर्ग, चन्द्रमा, नक्षत्र।
जो इनमें वास करता है वही वसु है।

रुद्र—चक्षु आदि पंच ज्ञानेन्द्रिय तथा प्राणयुक्त मन का सन्मिलित रूप ही रुद्र है।

प्राणी का कर्मफल शेष होने पर ये ग्यारह देवता शरीर का त्याग कर देते हैं। देह को निर्जीव देखकर सम्बन्धी जन रोते हैं। अतः ये रुद्र हैं।

"तद्द्रोदयति तस्मात् रुद्र इति"

आदित्य :—संवत्सर के अवयव द्वादश मास आदित्य के द्वादश रूप हैं।

इन्द्र : —प्राणिगण का वल एवं वीर्य ही इन्द्र है।

प्रजापति :—यज्ञ ही प्रजापति है। कर्मरूपी यज्ञ प्रजापति का स्वरूप है।

तत्पश्चात् इन तैंतीस देवगण के प्रतितिधि रूप तीन देवता का वर्णन हैं।

अग्नि, वायु-सूर्य। तत्पश्चात् इनके भी सूक्ष्म रूप दो देवता का उल्लेख मिलता है।

"अन्न एवं अन्नाद, या ग्राह्य एवं ग्राहक अथवा सोम या अग्नि।"

अन्त में एक ही देवता का वर्णन है। ऋषि कहते हैं कि एकमात्र प्राण ही देवता है।

उपरोक्त वर्णन से कविराज जी द्वारा उल्लिखित देवगण एवं प्राण का रहस्य किंचित अवगत होगा।

ऋषियों ने प्राण के अनेक पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख किया है। प्राण अर्थात् परब्रह्म, इन्द्रिय, जीव, क्रियाशक्ति, वायु, विश्व की विधान शक्ति, सातत्य एवं स्थितिशीलत्व। प्राण का यथावत् स्वरूप जानने के लिये आत्मतत्त्व, कर्मतत्त्व, अदृष्टतत्त्व, मनस्तत्व, इन्द्रियतत्त्व, प्राणन् व्यापारतत्व, सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरतत्व, समस्त पंचभूत एवं भौतिक शरीरतत्त्व का अनुसन्धान करना होगा। ताप, तड़ित् एवं आलोक प्राण की ही विभिन्न अभिव्यक्ति है। कहीं पर प्राण एवं वेद को समानार्थक माना गया है। प्राणस्पन्द से विश्व जगत् स्पंदित होता है। ऋग्वेद के सायण भाष्य के अनुसार सूर्य की रोचना, रोचमाना दिप्ति शरीर मध्य में मुख्य प्राण रूप से विद्यमान है। मुख्य प्राण की पंचवृत्ति शरीर का पोषण करती है। महीधर के मत से यह रोचना द्युलोक एवं भूलोक, वाह्य एवं अन्तस् में विचरण करती है। पाश्चात्य वैज्ञानिक Max Verworn ने प्राणन् व्यापार की अग्निशिखा से तुलना की है। सृष्टि के पूर्व परम सत्ता अव्यक्त, अव्याकृत रहती है। इसकी सर्वाग्र अभिव्यक्ति होती है प्राण रूप में।

मन के सम्बन्ध में कुछ पंक्तियाँ लिखना आवश्यक है। ऋग्वेदोक्त हिरण्यगर्भ ही विश्व मन है। अन्य मत से चित्त, मन, एवं कर्म समनार्थक है। अनुभूत अर्थ की भावना का नाम मन है। किसी के अनुसार अनन्त आत्मशक्ति के द्वारा कल्पित भाव ही मन है। व्यष्टि रूप में मन का उल्लेख करता हूँ। चित्त स्पन्दनात्मक क्रिया प्राप्त कर पुण्यपापात्मक धर्म एवं अधर्माकृति में परिणत होता है। कर्म ही चित्त के फलभोग रूप स्पन्दनात्मक विलास की प्राप्ति से चित्त होता है। मन का राजस परिणाम है व्युत्थान, शुद्ध सत्व परिणाम है निरोध। व्युत्थित मन (Outgoing potency) संसार है। निजस्वमन ही साम्यावस्था है। कणाद कहते हैं वेगवान तीर वेगाख्य संस्कार के अभाव, गुरुत्व एवं मध्याकर्षण क्रिया के फलस्वरूप कुछ काल पश्चात भूमि पर पतित होता है उसी प्रकार चित्त की क्रिया परिणामीभाव की समाप्ति से स्थिर होती है। समष्टि मन का अर्थ है सम्यक् व्याप्ति, व्यष्टि तद्विपरीत अवस्था है। "अत्र समस्त व्यस्त व्यापित्वेन समष्टि व्यष्टि व्यपदेशः"।

(वेदान्तसार)

देह के पूर्व भी मन था। योगसूत्र भाष्य ने इसे सिद्ध किया है।

"क्लेशकर्म विपाकानुभवनिमित्तभिस्तु वासनाभिरनादिकाल सम्मूर्च्छित मिदं चित्तं चित्रीमिव सर्वतो मत्स्यजाल ग्रंथिभिरिवाततमित्येता अनेकपूर्व्विका वासना"

पूज्य कविराज जी ने भी प्रस्तुत ग्रंथ में देहगठन के पहले से मन की सत्ता स्वीकार की है। सूर्य विज्ञान, कुमारीतत्त्व, कर्म, अन्धकार, क्षण एवं काल के संबन्ध में आलोचना शेष रह जाती है। अखण्ड महायोग के द्वितीय खण्ड में इसकी पर्यालोचना का प्रयास होगा। कविराज जी की कृपा से द्वितीय खण्ड का प्रकाशन शीघ्र होगा जिसमें अनुत्तरित विषयों का समाधान पाठकों की सेवा में यथाशक्ति प्रस्तुत किया जायेगा।

× × ×

अखण्ड महायोग की आलोचना अधूरी ही रहेगी यदि इस महायोग की वर्त्तमान धारा का उल्लेख न किया जाये। पूज्य कविराज जी ने इस परम्परा को बनाये रखने के लिये एवं अवशिष्ट कर्म समापन हेतु पूज्य दादा सीताराम जी को बाल्याकाल से ही अपने संरक्षण एवं निदेशन में रखकर शिक्षित किया था। पूज्य दादा जी अत्यन्त गुप्त रूप से कर्म पथ पर अग्रसर होते रहे। 1973 तक उन्होंने आत्मगोपन किया। यहाँ तक कि पूज्य दादा जी के सन्निकट रहने वाले लोग भी उनके आध्यात्मिक उत्कर्ष से अनभिज्ञ थे। कविराज जी ने अपनी अस्वस्थता के कारण 1973 की गुरुपूर्णिमा को इन्हें "अखण्ड महायोग" की कर्मधारा के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। साथ ही कविराज जी ने दादा सीताराम को कविराज भवन के

भूखण्डस्थ कक्ष से इस महाकर्म का संचालन करने का आदेश दिया। उस समय पूज्य कविराज जी ने अखण्ड महायोग के कर्मपथ की दो धाराओं का प्रदर्शन कराया। प्रथम है व्यष्टि साधना, द्वितीय है समष्टि साधना। समष्टि साधना का उल्लेख पूज्य कविराज जी ने प्रस्तुत ग्रंथ में किया है। उनके उपदेशामृत के आधार पर व्यष्टि साधना का जो प्रारूप बनाया गया है उसे यथासमय प्रकाशित करने की इच्छा है। संक्षेप में व्यष्टि साधना द्वारा देह साधन करना होता है। साधना द्वारा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति–प्रकारान्तर से स्थूल, सूक्ष्म, कारण अवस्था का अतिक्रम करना होता है तभी प्रकृत एवं निरपेक्ष शिशुभाव की प्राप्ति होती है। इसके लिये सुषुम्ना का संधान आवश्यक है, क्योंकि वही प्रकृत पथ है। पूज्य दादा सीतराम जी पूज्य कविराज जी के आदेशानुसार इस महाकर्म में प्रवृत्त हैं। 'पूज्य कविराज जी के आदेशानुसार अखण्ड महायोग संघ की स्थापना 7 दिसम्बर 1974 को की गई। संघ का उद्‌देश्य है अखण्ड महायोग की प्रक्रिया, दर्शन एवं विज्ञान का प्रसार। पूज्य दादा सीताराम जी के तत्वावधान में संघ के राशि-राशि साधक स्वकर्म में प्रवृत्त हैं। पूज्य कविराज जी ने प्रस्तुत ग्रंथ में सर्वत्र कर्म की महिमा का वर्णन किया है। कर्म से ज्ञान, ज्ञान से भाव एवं भाव से क्षणरूपा "माँ" का आविर्भाव होता है। कर्म में भी कर्म हैं, ज्ञान भी कर्म सापेक्ष है। तत्पश्चात भाव के उन्मेष की पृष्ठभूमि में भी कर्म की स्थिति है। पूज्य दादा जी यही संदेश विश्व को दे रहे हैं। कर्म के दो विभाग हैं। प्रथम सापेक्ष अन्य है निरपेक्ष। सापेक्ष कर्म है पंचकर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, एवं मन-बुद्धि का सहयोग लेकर साधना करना, निरपेक्ष कर्म है विना इन सबका सहयोग लिये अखण्ड महायोग की प्रणाली से कर्म प्रवृत्त होना। यही सर्वधर्म, ज्ञानेन्द्रिय धर्म, मन एवं बुद्धि के धर्मों का परिहार है। यही है गीतोक्त अनन्य शरणता। अथवा भाव का उन्मेष। भावोन्मेष के पश्चात् समष्टि कर्म प्रारंभ होता है जिसका वर्णन इस ग्रन्थ में कविराज जी ने किया है।

× × ×

इस प्रकाशन कार्य में जिन्होंने सहयोग दिया है उनका उल्लेख आवश्यक है। सर्वप्रथम मैं पूज्य दादा जी के अनन्य भक्त विनय कुमार सिंह गौतम को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने प्रूफ रीडिंग एवं प्रेस व्यवस्था में सहयोग दिया। आर्थिक व्ययभार का वहन पूज्य दादाजी के प्रिय शिष्य श्री शीतलाप्रसाद गुप्ता एवं किशोरीलाल गुप्ता ने किया है। इनके सहयोग विना यह प्रकाशन कार्य असंभव था।

[शेष पृष्ठ ६० पर देखिये]

विषय प्रवेश

जिनकी करुणा से बली होकर, जिनकी प्रेरणा के वशीभूत होकर, जिनका साक्षात् आदेश प्राप्त कर इस ग्रंथ रचना माध्यम से अखण्ड महायोग की किंचित आलोचना करने का साहस कर सका, सर्वप्रथम उन गुरुरूपा माता और मातृरूप गुरु के श्रीचरणों में नम्र हृदय से पुनः पुनः कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ। जिस योग का जगत् के किसी भी धर्मग्रंथ में वर्णन नहीं, जिसका विधि-विधान प्रचलित, प्राचीन, या नवीन, किसी भी शास्त्र में लिपिवद्ध नहीं—क्या वह वास्तव में सत्य है? यदि सत्य है, तो उसके परिचय का प्रयोजन भी अवश्य है। समग्र विश्व की सर्वाङ्गीण पूर्णता प्राप्ति ही अखण्ड महायोग का उद्देश्य है। प्रकृत पूर्णता लाभ वहुत वड़ी वात है, आजतक किसी ने उसका लाभ किया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पूर्णता के पथ पर अनेक अग्रसर हुए हैं। कोई कुछ दूर, कोई कुछ अधिक दूर। यहाँ तक कि किसी अवस्था को किसी ने अपने ज्ञान और विश्वास के अनुसार पूर्णता प्राप्ति मान भी लिया—परन्तु वह पूर्णता नहीं। यदि उसे तर्कवश पूर्ण मान भी लिया जाये तो भी वह किसी एक की ही व्यक्तिगत सम्पत्ति है। वह सवकी पूर्णता नहीं।

अतएव वह अखण्ड नहीं है। एक और अनेक का आत्यन्तिक भेद विगलित न होने से एक की प्राप्ति के साथ अन्यान्य सवकी प्राप्ति का अच्छेद्य योग प्रकाशित नहीं होता। संक्षेप में, जबतक जगत में दुःख है, अभाव है, पाप-ताप है, तव तक अपूर्णता विद्यमान है। जव तक आनन्द का आस्वादन है, तृप्ति का विलास है, लीला का उच्छ्वास है, तब तक एक प्रकार से अपूर्णता विद्यमान है। पूर्ण-पूर्ण ही है। एक व्यक्ति के भी पूर्ण होने से पूर्णता का पथ उन्मुक्त हो जाता है और सवके पूर्ण होने से एक व्यक्ति की पूर्णता सिद्ध होती है। पूर्णता के टुकड़े नहीं होते। वस्तुतः अखण्ड पूर्णता ही परिपूर्णता है। यही महायोग है।

इसे ही समग्र जीव-जगत का उद्धार कहा जा सकता है। विश्वस्थित अनन्त ब्रह्माण्ड का उद्धार, सवकी ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति, त्रिकालवर्ती त्रिधातुस्थ सकल सत्व का उद्धार, सभी तापों का उपशम कहा जा सकता है। इसे ही सबका अविच्छिन्न आनन्द लाभ और निखिल प्राणीवर्ग की सम्यक् इष्टसिद्धि कही जा सकती है। यही विश्वातीत-विश्वव्यापी नित्यलीला है और यही अखण्ड रासमण्डल में सब जीवों का प्रवेश-लाभ है। इस अवस्था में कोई पर नहीं रहता। सव अपने हो जाते हैं। यह स्व के साथ स्व का खेल है, अथच् नित्यलीलातीत स्थिति है। एक

ही अनन्त है, एवं अनन्त में सर्वत्र एकही सत्ता भासित हो रही है। तव काल नहीं है। जरा-मृत्यु नहीं है। क्षुधा-पिपासा अथवा पाप, ताप की ताड़ना नहीं है। संकोच, परिच्छिन्नता, एवं आवरण-विक्षेपमयी अविद्या का खेल भी नहीं है। सभी उस मूल अद्वैत स्वरूप में विश्रान्त हैं—विश्वमाया भी चिर अस्तमित है, अथच कर्म है। उस महाकर्म का निर्णय करने का सामर्थ्य जीव अथवा ईश्वर, किसी को भी नहीं। वहाँ कुछ भी नहीं फिर भी सब है।

यह आपाततः कवि की कल्पना, भावुक का भाव-विलास अथवा उन्मत्त का प्रलाप प्रतीत हो सकता है। विचार आ सकता है---यह है आकाश कुसुम की मनोहर मालिका, और अलीक स्वप्न का विचित्र जाल।

हो भी सकता है, परन्तु सभी ऐसा विचार नहीं रखते। क्या हो सकता है और क्या नहीं हो सकता, इसका स्थिर निर्देश इस संसार में कोई नहीं कर सकता। एक दिन जो असंभव लगता है, कालान्तर में वही अतिपरिचित सत्य का आकार धारण करता है। एक व्यक्ति जिसे युक्ति विरुद्ध और असत्य मानता है, अन्य उसे केवल संभवपर ही नहीं मानते, वल्कि उसे कार्यरूप में परिणत करने का भी सामर्थ्य रखते हैं। अतएव इस क्षेत्र में विद्रूप का हास्य और निन्दक की निन्दा, सहृदयता के साथ उपेक्षा योग्य है।

सत्य उड़ाने से भी नहीं उड़ता। प्रकृत सत्य, आपाततः आच्छन्न रहने पर भी उचित समय पर प्रकट हो जायेगा।

इस अखण्ड महायोग की प्राप्ति का एक मात्र उपाय है सूर्य विज्ञान। इसीलिये परमाराध्य श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंसपाद ने करीव १०० वर्ष पूर्व इस मृत्युलोक में अवतीर्ण होकर नरदेह धारण किया था। इस महाविज्ञान के लिये ही वे आविर्भूत हुये थे। यही महास्वातंत्र्य का उन्मेष है। यही है नियति लंघन और कालदमन। यही भूलोक में पूर्णाहन्ता का विकास है। यही है समस्त जगत का काम्यधन और आराध्य वस्तु। वोधिसत्व अपनी काया द्वारा सभी प्राणियों के सर्वविध सुख एवं हित के लिये प्रार्थी होकर अपने हृदय की आकांक्षा का प्रकाश करते हैं।

"चिन्तामणिर्भद्रघटः सिद्धविद्या महौषधि।
भवेयं कल्पवृक्षश्च, कामधेनुश्च देहिनाम्" ॥

यह महाविज्ञान है, समस्त कामनाओं का परिपूरक–चिन्तामणि अथवा भद्रघट-रूप किंवा है कल्पवृक्ष या कामधेनु स्वरूप। कोई जो कुछ भी चाहे, यही है सबकी

आकांक्ष्य वस्तु। किन्तु इसे चाह कर कभी नहीं पाया जा सकता। इसमें सभी चाह का पर्यवसान है।

विशुद्धानन्द जिस शरीर से प्रकट हुये थे, उसके द्वारा इस विज्ञान के अवतरण कार्य का मात्र पूर्वांश ही सम्पन्न हो सका। इसके पश्चात् अनिवार्य कारणवशात् उन्हें अपने स्थूल शरीर का संकोच करना पड़ा। स्वदेह संकोच के पश्चात् वे अन्य कई शरीरों का आश्रय लेकर उस महाकर्म का अवशिष्ट अंश पूर्ण करने में प्रवृत्त हुये। वे सब शरीर वास्तव में उनके ही शरीर थे, कारण उन सभी देहों में गुरुदत्त काय विद्यमान था। इस गुरुदत्त काय की प्राप्ति होती थी, दीक्षाकाल में उन्ही के ज्ञानमय महाकाय के अंशरूप में।

अखण्ड महायोग का सूत्रपात कर उन्होंने अपनी काया को छिपा लिया। सन्तानगण के बीच एक प्रकार की विरहावस्था के विकास हेतु यह गोपन कुछ अंश में आवश्यक भी था। अपने तिरोधान के तीन वर्ष पश्चात् उन्होंने पुनः आत्मप्रकाश किया। आरम्भ किये हुये इस कर्म के समापन हेतु कई लोगों ने उनके आह्वान को स्वीकार किया था, उनमें से एक मातृमूर्ति रूप एवं अन्य पुरुषमूर्ति थे। सबमें विद्यमान था गुरुदत्तकाय। निज का कर्मदेह न रहने से उन्हें गुरुदत्तकाय सम्पन्न नर देह का आश्रय लेना पड़ा। वे स्वयं कर्मपिपासु थे। वे जानते थे—जबतक कर्म पूर्ण नहीं होगा, विज्ञान का अवतरण तबतक संम्भव नहीं। और तबतक अखण्ड महायोग सिद्ध नहीं होगा। उनके महान् उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये प्रत्येक सन्तान को अपना कर्म करना होगा और अन्य से भी कराना होगा। उनकी आशा थी—सन्तान उनके निर्देश से स्वयं कर्म करेंगे एवं अन्य को भी प्रवृत्त करेंगे। वे चाहते थे कि गुरुदत्त काय सम्पन्न सन्तानगण कर्म पूर्ण करके उस वस्तु को जगत् में प्रकाशित करें। इससे जगत के अन्य दुर्बल जीव, नाम मात्र के कर्म से ही उस महावस्तु से युक्त हो सकेंगे। इस जगत का कोई भी जीव, कोई भी सन्तान - महावस्तु के ऐश्वर्य और माधुर्य से वंचित न रहें, यही उनका अभिप्राय था। दुर्बल संन्तान भी कर्मद्वारा भविष्य में उस वस्तु का पूर्णभाव से लाभ कर यथासंभव सबल सन्तान के समकक्ष हो सकेंगे। पूर्वावस्था के अवश्यंभावी अधिकार तारतम्य का चरमावस्था के महासाम्य में तभी पर्यवसान हो सकेगा। इस महाउद्देश्य को कार्य में परिणत करने के उद्देश्य से सभी सन्तानों द्वारा यथाशक्ति जीवन्त मातृशक्ति की मातृरूप से धारणा करना, उन्हे पुकारना और मातृज्ञान आवश्यक है। जीवन्त मातृशक्ति का अधिष्ठान है—अक्षत ब्राह्मण कुमारी। इस प्रकार की कर्म शक्ति और सेवा शक्ति द्वारा वे कर्म का उद्यापन कराने के हेतु व्रती हुये थे।

तीन सत्रह मास पर्यन्त कर्म, ज्ञान, और भाव इन तीन प्रकार की शक्ति के त्रिविध कर्म उनके द्वारा प्रदत्त विधान के अनुसार अनुष्ठित हुये। जिस महावस्तु को इस मरजगत में अवतीर्ण कराने की उनकी आकांक्षा थी, वह अवतरण कार्य पूर्वोक्त कर्म प्रभाव से सुचारुरूपेण निःष्पन्न हो गया। इस समय अवशिष्ट है, उस वस्तु की प्रत्येक व्यष्टि मानव के हृदय में प्रतिष्ठा। इसी का नाम है योग स्थापना। यह कैसे हो? जनसाधारण को यही बताने के लिये इस ग्रंथ का प्रणयन एवं प्रचार हुआ है। इसका उपाय अत्यन्त सरल है। इस सरल उपाय को ग्रहण कर वह महावस्तु सब प्राप्त करें यह प्रार्थना है।

इस ग्रन्थ में जिस महान आदर्श का परिचय देने की चेष्टा हो रही है उसके उत्स में, मूल में, श्री गुरु स्वयं हैं। वे इस समय माँ रूपी अभिन्न सत्ता के द्वारा आत्मप्रकाश कर, जगत के समक्ष इस महातत्व के अवतरणार्थ मृत्युधर्मी देह का आश्रय लेकर विद्यमान हैं। माँ का परिचय यहाँ उचित नहीं, न तो उसका कोई प्रयोजन ही है। यह अत्यन्त रहस्यमय तत्व है। उन्होंने आत्मगोपन किया है। उनकी स्थिति भी इसी भाव में है। उनकी एकमात्र इच्छा है कि श्रीगुरु का महाकर्म पूर्ण हो। इसी महाकर्म से एकदिन अनन्त विश्वव्यापी समस्त सन्तान-मण्डली "माँ" को पुकार कर उनकी अनन्त शान्तिमयी गोद में अवस्थान कर सकेगी। आपाततः माँ और गुरु अभिन्न हैं, यही कहना है। इससे अधिक वक्तव्य अभी संभव नहीं। संक्षेप में—यही मरजगत मनुष्यत्व लाभ के पश्चात् अमर जगत् के रूप में परिणत होगा। कर्म के प्रभाव से मर और अमर एकत्र हो जायेंगे। जीव एवं भगवान, सम्मिलित रूप से अखण्ड माँ को पुकार कर कर्म समापन द्वारा इस पृथ्वी में ही विज्ञानमय जगत की प्रतिष्ठा कर सकेंगे। माँ के विपुल आदर्श का प्रतिपालन अत्यन्त कठिन है। परिपालन का प्रयास करने पर सर्वत्र त्रुटि एवं विच्युति की संभावना है। यह कठिन होने पर भी अति सरल है। पूर्व संस्कारों का वर्जन होने पर इसकी धारणा संभव है। अतः यह क्षुद्र कलेवर युक्त ग्रंथ भ्रम और प्रमाद से सर्वथा रहित है, यह भी नहीं कहा जा सकता। मेरी समझ एवं समझाने की त्रुटि समझकर, पाठकगण क्षमा करेंगे। जो विषय शास्त्रों से अतीत है, उसे शास्त्रीय रूप में निबद्ध कर सकना एक प्रकार से असंभव है। शास्त्रीय परिभाषा शास्त्रीय दृष्टिकोण से गठित होती है। इस परिभाषा द्वारा शास्त्र से अतीत के विषय को समझाने की चेष्टा विडम्बना मात्र है। तब भी प्रश्नोत्तर के द्वारा विश्लेषण एवं व्याख्या कर कई बातों को अधिक स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है। किन्तु यहाँ उसका भी अवकाश स्थान नहीं। पाठकगण इस ग्रंथ को पढ़कर यह न समझें कि इसमें किसी सिद्धान्त अथवा साधन-प्रणाली पर आक्षेप किया गया है। इस प्रकार के आक्षेप का कोई कारण ही नहीं, क्योंकि सभी

प्रणालियाँ अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार सत्य हैं। फिर भी कोई प्रणाली पूर्ण नहीं। यदि पूर्ण होती तो उसी के प्रभाव से इस जगत में अखण्ड सत्ता का आविर्भाव होता। लेकिन अब तक ऐसा नहीं हुआ।

माँ के प्रकृत परिचय में कहने लायक कुछ भी नहीं है। बाह्यदृष्टि के परिचय की कोई सार्थकता नहीं होती। माँ का परिचय दे सकने योग्य क्षमता मुझमे कहाँ है? फिर भी सृष्टिकाल से आज तक जो अखण्ड महायोग प्रकट नहीं हुआ, जो मनुष्य की उद्दाम कल्पना के भी अतीत है, यदि निकट भविष्य में अवतरित हो जाये, ऐसी स्थिति में इस महायोग के कर्णधार अथवा सारथी का परिचय देने का कोई प्रयोजन ही नहीं। जो विश्व को सर्वांगीण पूर्णता देने के लिये अवतीर्ण हुये हैं, उनके ज्ञान, करुणा एवं शक्ति का परिचय कौन दे सकेगा? उनका एकमात्र परिचय है—वे माँ हैं। वे प्रकृति नहीं, पुरुष नहीं, यहाँ तक कि ईश्वर भी नहीं, मात्र "माँ" हैं। देवी महादेवी, भगवती नहीं, सिर्फ माँ है, निरुपाधिक माँ। वे शिव की मां हैं, जीवों की माँ हैं, सबकी माँ हैं। वर्तमान में मात्र जीवों की माँ के रूप में वे जगत में आयी हैं। जगत के घोरतर संकटकाल में सन्तान की रक्षा हेतु, और अपनी शांतिमयी गोद में आकर्षित करने के लिये वे आयी हैं। पृथ्वी पर जिस अभिनव, कालातीत, विज्ञान-मय, आनन्दमय, मृत्युहीन सृष्टि का स्फुरण होगा, उसमें सबको स्थान देने के लिये वे अवतीर्ण हुई हैं। विद्रोही सन्तान "माँ" को नहीं पुकारेंगी। फलतः प्राकृतिक नियमा-नुसार प्रलय के दंष्ट्राघात से चूर्ण होंगी, उन्हें भी बचाकर पूर्णता दान करने वाले को "माँ" के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है। असहाय जीवों का ऐसा स्वजन और कौन होगा? माँ, इस समय "माँ" शब्द की पुकार सुनने को आतुर हैं। वे इस समय विधिबद्ध कर्मज्ञान, या भक्ति नहीं चाहतीं—योग्यता, योग, तपस्या भी नहीं चाहतीं। मात्र चाहती हैं—सन्तान शिशुभाव से सरल पुकार द्वारा "माँ" कहकर उनकी आनन्दमयी गोद में आ गिरे।

पाठकवृन्द! यह ग्रंथ रचना किसी अभिनव दार्शनिक तत्त्व की आलोचना के लिये नहीं। यह ग्रंथ माँ का स्वरूप उद्घाटित करने और बतलाने के लिये भी नहीं है। असमय में कोई "माँ" को पुकारना न भूले, इस अनुरोध को संसार के समक्ष निवेदन करने हेतु इस पुस्तिका की रचना हुई है। अन्य सब उसका अंगमात्र है।

★

सर्वमुक्ति का महास्वप्न

योग्यता बिना ही सब प्राणियों के मुक्तिलाभ अथवा योग्यता सम्पादनार्थ, जीवमात्र के लिये मुक्ति की व्यवस्था, एक महान आदर्श है। इसकी संभवपरता अथवा असंभावना पर मतभेद हो सकता हैं, किन्तु आदर्श की महनीयता को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। प्राचीन काल में जिन महात्माओं ने सब प्राणियों की हित साधना का एकमात्र व्रत लिया था वे सभी अल्पाधिक परिमाण में इसी महान आदर्श से अनुप्राणित थे। गुरुवाद ख्रीष्टिय जीवोद्धार विषयक सिद्धान्त, एवं बौद्धों का बोधिसत्त्ववाद् इस महान् आदर्श का ही आंशिक विकास था, इसमें संदेह नहीं। बोधिसत्व ने बोधिचित्त ग्रहण काल में अपने स्वकृत् पाप के निर्देशनानंन्तर पुण्यानुमोदन कर, कृतांजलि वद्ध हो, विश्व कल्याण के लिये बुद्धवर्ग के समक्ष प्रार्थना की। जीव सेवा का इससे उत्कृष्ठ आदर्श हो भी नहीं सकता। प्रार्थना का भाव है "मेरा जो कुछ भी संचित पुण्य है, उसके प्रभाव से मैं सब जीवों के सब प्रकार के दुःख का उपशम करने में समर्थ होना चाहता हूँ। रुग्ण और व्याधि पीड़ित के लिये मैं रोग-निवृत्ति न होने पर्यन्त वैद्य-औषध एवं परिचारक बनूं। दरिद्र के निकट मैं अक्षय धन-रत्न भण्डार रूप बन जाऊं और नाना प्रकार के उपकरणों द्वारा उनकी सेवा का सामर्थ्य प्राप्त करूं। सब प्राणियों के कल्याण के लिये मैं निष्काम भाव से समस्त भोग और त्रैकालिक शुभ का त्याग करता हूँ। सर्वत्याग का नाम है निर्वाण—मेरा मन निर्वाण प्राथीं है। सर्वस्व त्याग के इस पवित्र क्षण में मैं अपने निर्वाण को भी प्राणियों को अर्पित करता हूँ जिससे मैं अनाथों का नाथ, यात्रिगण का सार्थवाह, पारार्थी की नौका, दीपार्थी का दीप, शय्यार्थी की शय्या एवं दासार्थी का दास हो सकूं। मैं प्राणियों के लिये चिन्तामणि, भद्रघट, सिद्धविद्या, महौषध, कल्पवृक्ष, एवं कामधेनु हो जाऊं। पृथ्वी आदि पंचभूत—जिस प्रकार इस अनन्त आकाशस्थ जीवगण के लिये अनन्त प्रकार की भोग्य वस्तु में परिणत हो जाते हैं, वैसे ही जबतक संसार के समस्त जीव, संसार दुःख से मुक्त नहीं हो जाते तब तक मैं सबका सेवक बन जाऊं।" (द्रष्टव्य-शान्तिदेवकृत् बोधिचर्यावतार अध्याय ३, पृष्ठ-५-२३-) सब प्राणियों की मुक्ति की यह आकांक्षा आज तक पूर्ण नहीं हो सकी। अखण्ड महायोग से वह आकांक्षा पूर्ण होगी—यह आशा है।

प्राचीन काल में अनेक ने सर्वमुक्ति को स्वीकार नहीं किया है। परन्तु इस सम्बन्ध में सबकी युक्ति एक समान नहीं है। कुछ का विचार है कि जीव संख्या

परिमित है, अतः सर्वमुक्ति हो जाने से जगत् शून्य हो जायेगा। कुछ जीव संख्या को अपरिमित मानते हैं। वे कहते हैं कि आदि सृष्टि से क्रमविकास द्वारा आगत प्राणि समूह एक दिन मुक्त हो जायेंगे। फिर भी अतीत भूमि में अनन्त जीव सुप्तावस्था में विद्यमान हैं। वे सुप्त जीव जाग्रत होकर पुनः नूतन आवर्तवश देह परिग्रह करेंगे। वारंम्वार यही क्रम चलेगा अतः सर्वमुक्ति नहीं हो सकेगी। कुछ लोग कहते हैं मुक्ति का काल निर्देश सम्भव नहीं, अतः सर्वमुक्ति एक प्रकार से युक्ति विरुद्ध है। अन्य मत से एक ही प्राणी की मुक्ति में एककल्प, महाकाल्प, अथवा इससे भी दीर्घकालीन क्रमिक साधना की आवश्यकता है। सर्व प्राणियों की मुक्ति कव होगी? यदि भगवान की तटस्थ शक्ति (जीव शक्ति) को स्वीकार किया जाये तब तो नूतन जीव सृष्टि की ही संभावना चिरकाल के लिये संभव है। किसी आचार्य के मतानुसार सब प्राणियों में मुक्त होने की योग्यता नहीं। वे इस प्रकार के भी जीवों का अस्तित्व मानते हैं, जिनकी मुक्ति कभी भी नहीं होगी। या तो वे तम के अन्ध कारागार में अवस्थान करेंगे अथवा नित्य संसारी होकर सृष्टि चक्र में भ्रमण करते रहेंगे। वैष्णव भक्तगण का "वरणवाद" और खीष्टिय भक्तों का "Doctrine of Election" एक प्रकार से सत्य है। परमात्मा जिस जीव को अपना बना लेते है, वही उन्हें पा सकता है। अन्य के लिये उन्हें पाना असंभव है। उपनिषद् एवं विभिन्न धर्म संम्प्रदायों में इसी प्रकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। Elect और Reprobate Soul की वात इस प्रसंग में आलोच्य है। कोई सर्वमुक्ति को आंशिक रूप से स्वीकार करने पर भी उसमें क्रम भाव स्थापित करते हैं। वे युगपत सर्वमुक्ति को स्वीकार नहीं करते। किसी के मतानुसार सर्वमुक्ति तो बहुत दूर की वात है। वे कहते हैं "इस वात का क्या प्रमाण है कि आजतक एक की भी मुक्ति हुई है?" शुक अथवा वामदेव की भी मुक्ति में अनेक को संदेह है। बौद्धवादियों में से कुछ ने गात्रभेद स्वीकार किया है। इसके अनुसार यह पूर्व निश्चित है कि कौन मुक्त होगा और कौन नहीं। जिनमें कुशलमूल नहीं है वे कैसे मुक्त होंगे? जैन मतानुसार भव्य एवं अभव्य आत्मा का भेद इस प्रसंग में स्मरणीय है। किसी के अनुसार महाप्रलय में सर्वमुक्ति होती है। पर वस्तुतः ऐसा नहीं होता। एक ब्रह्माण्ड में महाप्रलय होने पर भी अनन्त ब्रह्माण्ड महाप्रलय से अछूते रहते हैं। अतः सर्वमुक्ति नहीं हो सकती। एक ब्रह्माण्ड का विनाश तो मात्र ब्रह्माण्डाभिमानी हिरण्यगर्भ और उनके साथ योग युक्त आत्माओं की मुक्ति, ब्रह्माण्ड स्थित अन्यान्य जीवों की मुक्ति है। पुराणों में वर्णित महाप्रलय की अपेक्षा आगममत से वर्णित महाप्रलय अधिक व्यापक है, परन्तु उसमें भी सर्वमुक्ति की संभावना नहीं। जिन्होंने सर्वमुक्ति को स्वीकार किया है, वे कहते हैं कि मुक्ति की योग्यता सभी जीवों में है। फिर भी उसमें मात्रागत तारतम्य

है। उसे कार्य में परिणत करने के लिये शक्ति की आवश्यकता है। शक्ति ही चैतन्य है। शक्ति विकास के तारतम्यानुसार इस योग्यता की सफलता निर्णीत होती है। यदि किंचिन्मात्र योग्यता है और चैतन्य शक्ति का उन्मीलन अधिक परिमाण में है तो वह क्षुद्र योग्यता ही चैतन्यशक्ति के उन्मीलन का आश्रयण कर कार्य रूप में परिणत हो जाती है। समस्त सुप्त जगत् को अहैतुक रूप से जगा सकना एकमात्र पूर्णतम चैतन्य द्वारा ही संभवपर है। यदि कभी भी इस प्रकार से चैतन्य की अभिव्यक्ति इस धरातल पर संभव हो सके तो मुक्ति के अयोग्य कोई भी नहीं रहेगा। इसीलिये अखण्ड चैतन्य से भिन्न-खण्ड गुरु द्वारा सब प्राणियों का उद्धार संभव नहीं। कुशलमूल सर्वत्र है। किन्तु उसे सर्वज्ञ के अतिरिक्त कोई भी नहीं देख सकता। और जब तक कुशलमूल लक्षित नहीं होगा तब तक उसके ऊपर प्राण शक्ति क्रिया नहीं करेगी। अतः इसी कारण उत्तरकालीन महायान बौद्धमत ने गात्रभेद को स्वीकार नहीं किया। उनका कहना है—एक ही धर्मधातु से सब उद्भूत हैं; अतः किसी को भी अनधिकारी नहीं कहा जा सकता।

वेदान्त मत के एकजीव वाद के साथ सर्वमुक्ति का सम्बन्ध है। वेदान्त का मूल सिद्धान्त है एकजीव वाद। एक ही आत्मा चिदैकरस और सर्वसंकल्प का अधिष्ठान है। यह एक आत्मा अकल्पित है। सब जीव उसी की अविद्या द्वारा स्वप्नवत् कल्पित हैं। जो मुक्त है, जो मुक्ति की ओर उन्मुख है एवं जो भविष्यत् में मुक्त होंगे—सभी कल्पित हैं। इसी एक जीव की प्ररोचना हेतु अथवा ब्रह्मविद्या की प्रशंसा के लिये वामदेव विषयक श्रुति प्रकट की गई है। इस अवस्था में, इस एक जीव की सांसारिक या मोक्ष दशा के सम्बन्ध में संदेह का कोई स्थान नहीं। इस भाव के अवलम्बन द्वारा प्रत्येक आत्मा में गुरु एवं शास्त्र द्वारा जब इस प्रकार का बोध उदित होगा तब संदेह उत्पन्न होने का कोई भी कारण नहीं है।

संक्षेप में, वर्तमान ग्रंथ में लिखित सर्वमुक्ति में तथा उपरोक्त सिद्धान्त में अनेक पार्थक्य हैं। जीव के नानात्ववाद सिद्धान्त पर आधारित सर्वमुक्ति ही अखण्ड महायोग में ग्राह्य है। जीव एक है। फिर भी अनेक है, एवं अनेक होकर भी एक ही है। अतः जब तक एक की वास्तविक मुक्ति नहीं होती तब तक सर्वमुक्ति असंभव है। बहु जीवों की मुक्ति हो सकती है। क्रमशः बहु जीवों की मुक्ति होती भी रहेगी। यह संभव है। किन्तु सर्वमुक्ति नहीं हो रही है। जीव देहाभिमानी है। देह—व्यष्टि, समष्टि, महासमष्टि रूप, तीन प्रकार की है। व्यष्टि देह तथा व्यष्टि देहाभिमानी जीव असंख्य हैं। समष्टि देह और समष्टि देहाभिमानी जीव किंचित न्यून होने पर भी असंख्य हैं। किन्तु महासमष्टि देह एक ही है और उसके देहाभिमानी जीव एकमेवाद्वितीय एवं अभिन्न हैं। एक मत से महासमष्टि जीव की मुक्ति, यावतीय समष्टि एवं

देहाभिमानी जीवों की मुक्ति का नामान्तर है। [किन्तु यह सत्य नहीं। कारण अशांशीभाव देह में हैं। किन्तु जीव में नहीं। अतएव अभावात्मक मुक्ति, अर्थात् देहाभिमान निवृत्तिरूप मुक्ति अपने अपने अधिकार के अनुरूप व्यष्टि एवं समष्टि में पृथक्-पृथक् हो सकती है। अथच समष्टि मुक्ति नहीं भी हो सकती है। पक्षान्तर से समष्टि मुक्ति सम्पन्न होने पर भी व्यष्टि मुक्ति न हो ऐसा भी संभव है। अतः यह प्रकृत मुक्ति नहीं। यदि अहन्ता का विकास लक्ष्य है, वैसी स्थिति में महासमष्टि रूप में सब जीवों की मुक्ति संभवपर है। महासमष्टि एक होने पर भी अनन्त व्यष्टि के साथ अभिन्न है। केन्द्र में एक विन्दु है अथवा अनन्त व्यष्टि के अन्त्य विन्दुरूप में अनन्त विन्दु की स्थिति है]

अनेक महाजनों ने सर्वमुक्ति का महास्वप्न देखा है। इसे मैं महास्वप्न कह रहा हूँ, क्योंकि लौकिक साधारण बुद्धि से इसकी धारणा नहीं की जा सकती। महाजनों में से किसी ने इसकी मानव जाति के भविष्यत् चित्ररूप में उपलब्धि की है। एक प्राचीन भविष्यवाणी प्रसिद्ध है :—The last enemy to be conqured is Death, and then the kingdom of God shall be established on earth as it is now in Heaven" अर्थात् मृत्युजय ही रिपु जय की परिणति है। मृत्यु जय के पश्चात् जिस दिव्यधाम की अवस्थिति भगवान के राज्य में है, एवं सत्यराज्य में प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार पृथ्वी पर सत्यराज्य प्रतिष्ठित होगा।

भारत के जिन महाजनों ने मानव के इस उज्वल भविष्यत् के सम्बन्ध में प्रकाश्य भाव से कहा है, उनमें महानाम सम्प्रदाय के प्रवर्तक फरीदपुर निवासी प्रभु जगद्बन्धु का नाम उल्लेख योग्य है। प्रभुजगद्बन्धु प्रायः १०० वर्ष पूर्व इस मरजगत् से अन्तर्हित हो गये। अपने अन्तर्ध्यान के वहुत पहले उन्होंने अपने ग्रन्थ में स्पष्ट भाषा द्वारा भविष्य का चित्र अंकित किया था। वे कहते हैं—एक विराट संहार लीला का अभिनय होगा, तत्पश्चात् पृथ्वी पर एक नित्य आनन्दमय लीला की सूचना प्राप्त होगी, जिससे जगत के प्रत्येक जीव को समभाव अधिकार प्राप्त होगा। ऐसा आभास जगद्बन्धु ने स्थान-स्थान पर दिया है, "महाप्रलय आया", "कलिसंख्या पूर्ण हो रही है", "कालतरंग भंग", "कालाम्बुज गर्जन", प्रभृति शब्द द्वारा उन्होंने एक अवश्यंभावी घोरतर संहार का संकेत दिया है। उनके ग्रन्थ "त्रिकाल" एवं "हरिकथा" १३०५ वंगाब्द में प्रकाशित हुये हैं। उस समय उन्होंने स्पष्ट भाषा में जो आभास दिया था, वह इस समय और भी स्पष्ट हो गया है। उन्होंने अनन्त ब्रह्माण्ड के स्रष्टा, परमात्मा, परब्रह्मगण, और चराचर के भविष्यत् का वर्णन किया है। जिसे मैं अखण्ड महायोग कह रहा हूँ, उसका कोई कोई अंश जगद्बन्धु महाप्रभु के महाउद्धारण से

अभिन्न है। अनन्त अक्षौहिणी संख्यक ब्रह्माण्डों का उद्धार है। सकल ब्रह्माण्ड निर्वाण लाभ करें ऐसा नहीं। अपितु सर्वत्र अनन्त नित्य ब्रजधाम का उदय होगा और पृथ्वी पर नित्यरास का उन्मेष होगा। महाउद्धारण सर्वजीवों का उद्धार है। सत्य से भिन्न काल ही त्रिकाल है। इस त्रिकाल की माया कट जायेगी। इसका नाम है त्रिकाल मोक्षण। सत्य प्रतिष्ठित होगा और यह मायापट हमेशा के लिये अपसारित होगा। महाप्रभु ने कहा था कि नित्य वृन्दावन में सखा-सखी कोई नहीं है, नित्य पुरुष अकेले हैं। वे नित्य पुरुष इस प्रपन्च में अवतीर्ण होंगे। प्रकृत् काल तव नहीं रहेगा। इस स्थिति के पहले ही भयंकर प्रलय घटित होकर कालकी समाप्ति हो जायेगी। अभी सत्य के साथ अंधकार भी संचित होता जा रहा है। त्रिकाल के इस अन्धकार का तिरोधान होते ही, इस पृथ्वी पर नित्य ब्रजधाम का आविर्भाव होगा। अनन्त ब्रह्माण्ड प्रेमामृत से आप्लावित होगें। त्रिकाल द्वारा संचित पापराशि इस महाप्रलय का कारण है। सृष्टि के पाप से सृष्टि की ध्वंस लीला का प्रारम्भ होगा। अनन्त जगत के महापाप का आत्मदेह में आकर्षण कर जो सृष्टि की रक्षा करने में समर्थ हैं, वे ही सबके अधीश्वर हैं। यह उद्धारणरूपी उपाय समष्टि भाव में नामोच्चारण रूप उपाय है। अर्थात् महाभावावेश द्वारा महाजागरण के लिये पंचभाव समन्वित भक्तगणों की विरह, शोक, ताप-वश उच्चारित सम्मिलित ध्वनि। ब्रजपरिकरगणों के पाँच भावों में प्रत्येक भाव ही उद्धारण है। भक्तगणों की सम्मिलित शक्ति है पूर्ण उद्धारण।

महाप्रभु की वाणी से स्पष्ट है—उद्धारण की तुलना में महाउद्धारण का वैषिष्ठ। सर्वजीवों का उद्धार ही महाउद्धारण है। जीवकृत पाप को ग्रहण कर उनके उद्धार की व्यवस्था करनी होगी। इसके पूर्व एक महासंहार की लीला आवश्यक है। तभी इस पृथ्वी की परमानन्दमय ब्रजधाम के रूप में परिणति होगी। "हरिकथा" ग्रन्थ में कई जगह प्रलय आगमन की सूचना दी गई है। जीव को नामाश्रय का उपदेश दिया गया है। श्री बन्धुगोविन्ददास ने कहा है एक भावी महालीला का आभास ब्रजलीला और गौरांगलीला में पाया जाता है। उस लीला का नाम है महा-उद्धारण लीला। रूप उसका महासम्मेलन है, काल है महाप्रलययुग, देश हैं चार महाप्रदेश, पात्र है प्रत्येक अणु-परमाणु। ज्ञान का फल है पुरुषार्थ। यह ब्रज सायुज्य है। परब्रह्म सायुज्य नहीं। प्रभु के मत से ब्रह्म एवं परब्रह्म दोनों ही अनित्य हैं। कारण स्वर्गादि के समान परब्रह्म भी महाप्रलय में नहीं रहते। इस मत से परब्रह्म परमात्मा का ही नामान्तर है, जिससे समग्र जीवजगत् उत्पन्न होता है और अन्त में जिसमें लीन हो जाता है। अतः परमात्मा को श्रष्टा कहा गया है। किन्तु जीव-जगत् का श्रष्टा होने पर भी परमात्मा या परब्रह्म भी सृष्ट ही हैं। अतएव महाप्रलय में प्राकृत जगत् के साथ-साथ परमात्मा भी लीन हो जायेंगे। प्रभु के मत से त्रिकाल के उर्ध्व में

सिद्धलोक अथवा निर्विशेष व्रजधाम है। वैकुण्ठ उससे भी उर्ध्व में स्थित है। व्रजधामादि उद्धारण क्षेत्र वैकुण्ठ से भी अतीत है। महाप्रलय के उपरान्त नवीन सृष्टि में यही सर्वोच्च भगवत्धाम इस पृथ्वी पर अवतीर्ण होगा। एक सिद्ध तांत्रिक उपासक थे वामाक्षेपा। इन्होंने एक प्रसिद्ध लेखक के साथ वार्ता करते हुये मानव जाति के इस उज्वल भविष्यत् की कथा का उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है कि व्यक्तिगत कुण्डलिनी की भाँति ही समष्टिगत कुण्डलिनी की स्थिति है। इसका नाम है विश्व-कुण्डलिनी। अदूर भविष्यत् में इस विश्व-कुण्डलिनी के जाग्रत होने का समय आ रहा है। तव समग्र जगत् महाचैतन्य द्वारा व्याप्त हो जायगा।

सन्तजन कहते हैं—आध्यात्मिक दृष्टि से अन्य युगों की अपेक्षा कलियुग श्रेष्ठ युग है। कारण इस युग में पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड के साथ शुद्ध चैतन्य का योग है। जब दुःख, कष्ट, पाप, प्रभृति वृद्धिगत होते हैं तब पीड़ितजन भगवान की ओर दृष्टि-पात् करते हैं। इनमें किसी-किसी में वैराग्य का उदय होता है। इस प्रकार आत्मा का परिवर्तन होता है। आध्यात्मिक पिपासा उर्ध्व आकर्षण से जाग्रत होती है। इस सम्बन्ध में ब्रह्मशंकर जी (हुजूर महाराज) लिखते हैं—

In acrordance with our theory the spiritual current from the purely spiritual region will at no distante date become predominent in this world, when the central phase of the conjunction with the first grand division of creation takes place. All tbe troubles that we are now undergoing will disappear and a condition more ameliorating, Joyous, and blissful than that of Satyayuga will supervene. Spiritual powers are now so hidden will be more manifest then, and without much trouble or difficulty success will be attained in spiritual training and the spiritual and internal experiences of the devotee will be so many and frequent that he will have positive proof during his life on this earth, of his true emancipatien and of his location in the spiritual region. When the spiritual regeneration and elevation have been effected thus in the third grand division of creation the time for the great dissolution will come. By the time of its occurrence a very large number of entities will reach the

region of pure spirituality and would become immortal for ever. The remaining entities and the creation of Brahmanda and the third grand division will also be greatly benefited by the dissolution. A new cyle of creation will commence and the spiritual interest and the benefit of the two grand divisions of creation will again be guarded as in the previous cycle.

Discourses on Radhaswami faith by
Swami Bramhashankar
2nd edition P. P. 284-87

★

सन्त मतानुसार कालराज्य से आत्मा का उद्धार

कबीरपन्थी महाजनगण एवं सन्तवर्ग कालराज्य से जीवात्मा के उद्धार के सम्बन्ध में प्रायः एक प्रकार के मत का पोषण करते हैं। व्यक्तिगत भाव से विभिन्न महाजनों के बीच किसी किसी विषय में सामान्य मतभेद दृष्टिगत होता है, फिर भी सामान्यतः उन सबके साधारण सिद्धान्त प्रायः एक प्रकार के हैं।

इस मत के अनुसार सृष्टि के आदि में परमपुरुष अपने आपमें विश्रान्त थे। उनके चिन्मय सनातन लोक का प्रकाश चैतन्य आकाश में पड़ा। उसका नाम है समष्टि जीव। सन्तगण परमपुरुष के धाम का वर्णन अयोध्या या साकेत धाम के नाम से करते हैं। इसी का नामान्तर है सत्यलोक। चैतन्य आकाश में समष्टि जीव था। परन्तु परमपुरुष के स्वधाम में उनके ही अनुरूप, नित्य सखा स्वरूप, एक जातीय, जीव का वास है। इन्हे पार्षद जीव कहते हैं। जागतिक भाषा में परमधाम का प्रकाश "ब्रह्म" नाम से अभिहित है। दयाल परमपुरुष ने पूर्वोक्त ब्रह्मस्थित ज्ञानहीन समष्टि जीव को शब्द द्वारा चेतन कर अपनी ओर आकर्षित करने की इच्छा की। समष्टि जीव को चैतन्य संचार के साथ साथ आत्मदान भी हुआ (सुरति)। अर्थात् जिस अनादि महासुषुप्ति में ये सब जीव मग्न थे, वहां उनमें अहंभाव का स्फुरण नहीं था। यही सुप्त भाव है। नाद के प्रभाव से समष्टि जीव अहंबोध प्राप्त कर जाग्रत हुआ। जीव जागकर स्वयं को जान सके—यही चैतन्य दान का एक मात्र उद्देश्य है। जीव का एक स्वरूप देह है, जिसे हंसदेह कहते हैं। जीव सुप्त था, अतएव स्वरूप देह से कार्यतः वंचित था। जीव को जगाने की पृष्ठभूमि में परमपुरुष का एक मात्र उद्देश्य था कि जब जीव जागकर उन्हे जान सकेगा, तब इस ज्ञान के साथ साथ हंसदेह प्राप्त होगी और वह परमधाम में परमपुरुष के पार्षद रूप में स्थान लाभ कर सकेगा। इस धाम में मन, माया और काल की गति नहीं है। वहां स्थिति लाभ होने पर जीव आनन्द प्राप्ति द्वारा कृतार्थता का अनुभव करेगा। परमपुरुष को जान सके, इसीलिये सुप्त जीव को जगाकर उसके मध्य अहंबोध का स्फुरण कराया गया। जीव जागकर भी परमपुरुष की ओर अग्रसर नहीं हुआ। वरन् वह काल की ओर अग्रसर होने लगा।

चैतन्य दान के पश्चात् परमपुरुष ने अनेक होने की इच्छा की। इसके फल स्वरूप क्रमशः मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं "मैं ब्रह्म हूं" इस अनुभव का उदय

हुआ। यही वंधन की प्रथम सूचना है। परमपुरुष ने समष्टि जींव को सार शब्द के उपदेश द्वारा जगाया था। किन्तु जीव जाग्रत होकर विचार करने लगा "परा-आद्या शक्ति ही सबका मूल है।" समष्टि जीव में कारणरूपा ईच्छा थी। अतः वह जगत की ओर अभिमुख हुआ। परा या आद्याशक्ति स्वरूप में एक और इच्छा का अस्तित्व था—उसका नाम है योगमाया। इन दोनों से अक्षर ब्रह्म का आविर्भाव हुआ। किन्तु यह दोनों मौलिक इच्छा गुप्त या अदृश्य रह गयी। "मैं अनुभवगम्य ब्रह्म हूं" यह वाक्य समष्टि जीव की श्वास से उद्‌भूत हुआ। इस स्वानुभव से अष्ट-सिद्धि का विकास हुआ है।

समष्टि जीव ने ब्रह्म को "मैं" मानकर शुद्ध से अशुद्ध अवस्था की प्राप्ति की। (क्योंकि यह अनुभव—ब्रह्म एवं माया का मिश्रित रूप था) इसीसे जीव और जगत् दोनों की सृष्टि हुई। एक "अहं" की "वहु" होने की इच्छा द्वारा, एक से अनेक की सृष्टि हुई। सत् से बहुत्व नहीं होता और न सृष्टि ही होती है। कारण सत्‌ब्रह्म-मन, वाक्य से अतीत और विकार हीन है। सविकार होकर ही "वहु" हुआ जाता है। इसीलिये समष्टि जीव अपने में मिथ्या ब्रह्म का आरोपण कर माया शवल वनता है और उसके द्वारा जगत् का उत्पादन करता है। यही नहीं, वह स्वयं मी उत्पन्न होकर समष्टि जीव से व्यष्टि जीव बन जाता है। इससे परमपुरुष को पहचानने का द्वार रुद्ध हो जाता है। परमपुरुष ने जीव को आत्मा प्रदान की है—उसे जगाने के लिये, सांसारिक वनाने के लिये नहीं। जीव ने दुर्भाग्यक्रम से आत्मा को संसार में लगा दिया।

अतः इसे प्रत्याहार द्वारा परमपुरुष में लगाना होगा। भगवान ने सार शब्द का उपदेश दिया था। [कालशब्द, सन्धिशब्द, झाईं शब्द—सब भ्रम उत्पादक हैं। एक मात्र सारशब्द ही भ्रमनाशक है। सन्तों की धारा में परा, पश्यन्ति, प्रभृति चार प्रकार की वाणियों का विशिष्ठ अर्थ है। (१) परा = शून्याकार, अक्षर ब्रह्म-मयी और अव्यक्त है। इसका स्थान है नाभिप्रदेश। इस अवस्था में अन्तःकरण नहीं रहता। (२) पश्यन्ति = अर्धमात्रा। इस अवस्था में अन्तःकरण उदित होता है। इसका स्थान है हृदय। (३) मध्यमा=१६ स्वरवर्ण। इसका स्थान है कण्ठ। तथा पैंतिस व्यंजनवर्ण—जिसका स्थान है मुख। तत्पश्चात् चतुर्थ वाणी= अनवनी अर्थात् नाना प्रकार की वाणी। यह चार प्रकार से विभक्त है। वेद, पुराण प्रभृति कालशब्द हैं। प्रणव या झंकार संधिशब्द है। सोहं शब्द भी संधिशब्द है। अलख, अकह, निर्वाण, निर्गुण, नेति-नेति ये सब झाईं शब्द हैं]। समष्टि जीव, शब्द का भगवन्मुख अर्थ नहीं करता। वह शब्द के अर्थ रूप में ब्रह्म की कल्पना करता है, अतः शब्द संसार की उत्पत्ति एवं बंधन का कारण वन

जाता है। साकेतपति दयाल परमपुरुष पूर्ण हैं। उनके अंश से संम्भूत विशुद्ध जीव या हंसगुरु अणुसमष्टिरूप आदि पुरुष है। वह गुणातीत, चिन्मात्र, अनन्त एवं नित्य हैं। जीव पूर्ण की ज्योति में अवस्थित था। पूर्ण चैतन्य या परम पुरुष नराकृति है। विशुद्ध जीव या हंस भी नराकृति है, और अणुमात्र है।

हंस रूप जीव की देह आदि काल से ही परिपक्व पंचतत्वमय है। वह चेतन, और प्रकाश रूप है। सूक्ष्म ब्रह्माण्ड भी परिपक्व पंचतत्वमय है। पक्वतत्व, चैतन्यमय ब्रह्माण्ड एवं चित्प्रकाश, हंस, अनादि हैं। हंस स्वरूपतः ज्ञाता है, ज्ञान अथवा ज्ञेय नहीं।

इसी परिपक्व पंचतत्वमय देह को संन्तगण षष्ठ देह कहते हैं। इस अवस्था में जीव पूर्ण चैतन्य के साथ एक हो जाता है। पूर्ण ही मूल चैतन्य है। परम पुरुष है साकेतपति। विशुद्ध जीव अणु स्वरूप हैं, हंस गुरु हैं और सृष्टि के आदि पुरुष हैं। परम पुरुष के एकांश में माया या योगमाया की स्थिति है। वे नित्य हैं। माया के अन्तर्गत परम पुरुष का अंश ही समष्टि जीव या विशुद्ध जीव है। माया के आवरण-वश इस चैतन्य को जीव कहते हैं। विशुद्ध जीव अनादि काल से योगनिद्रामग्न हैं। इसे माया या त्रिगुण से कोई सम्बन्ध नहीं। क्योंकि सुप्त में कोई भी गुण क्रिया नहीं करता। यही महासुषुप्ति अथवा सृष्टि की पूर्वावस्था है। नित्य जाग्रत परम पुरुष के ईक्षण या प्रेम दृष्टि से प्रथम जागरण होता है। निद्रावस्था में विशुद्ध जीव को "षष्ट देह' प्राप्त थी। उस समय शांति थी। परन्तु स्मृति नहीं थी कि वह परमपुरुष के साथ एक है। इस विस्मृति का नाम है सुषुप्ति। समष्टि जीव अपने आनन्द में आसक्त था, अतएव ऐसी अवस्था थी। विस्मृति के कारण जीव आनन्द धाम से वंचित था।

जागते ही विवेक दृष्टि से समष्टि जीव ने परमपुरुष धाम के मध्यस्थित पक्वतत्व-मय ब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्गत हंस देह का प्रकाश मिलित भाव से देखा। तब आनन्द से आत्महारा हो उठा। उस धाम का एवं स्वीय पक्व देह का मिलित प्रकाश है दर्शन का आनन्द। आनन्द विभोर होने से जाग्रत जीव परमपुरुष में प्रवेश नहीं प्राप्त कर सका। फलस्वरूप वहीं खड़ा रह गया। वह परमपुरुष को भूल गया था एवं अब स्वयं भी विस्मृति को प्राप्त हुआ। फलस्वरूप निज चित्स्वरूप ज्ञान से वंचित होकर जड़भावापन्न हो गया : वह पंचदेह का आश्रयण करने को बाध्य हुआ।

इस स्वरूपभ्रष्ट जीव को अशुद्ध कहते हैं। इस समय से ही जीव का पतन प्रारंभ है। प्रथम कैवल्य देह ग्रहण, तत्पश्चात, महाकारण, कारण, सूक्ष्म, और स्थूल देह ग्रहण—अस्वाभाविक अवस्था है। जीव की स्वाभाविक अवस्था में ब्रह्म, ईश्वर, माया और मन का कोई स्पर्श भी नहीं रहता। उस समय जीव की स्वरूप दृष्टि खुली रहनी चाहिये।

सन्तगण कहते हैं- जीव कैवल्यशरीर में सच्चिदानन्दरूप प्रकाश से पूर्ण सर्वदा स्थित है। इस स्थान पर मन अंकुरित होता है। तव तुरीय अवस्था की स्मृति आती है। यही जीव का महाकारण शरीर है। सुखस्मृति के कारण वासना का जन्म होता है और जीव सुषुप्ति अवस्था में मग्न हो जाता है। जागकर उसी सुख का स्मरण करता है। यही कारण देह है। वासना ही संकल्प-विकल्प का रूप धारण करती है। फलतः स्वप्न अवस्था का सुख उदित होता है। यह सूक्ष्म शरीर है। संकल्प-विकल्प से नाना कर्मफल द्वारा पंचभूतजन्य स्थूल देह का उदय होता है। यह है जाग्रत अवस्था। इस प्रकार माया का जीव पर आक्रमण होता है और वही जीव को संसारी वनाती है। महाप्रलय काल में जीव ब्रह्मप्रकाश में जाकर एकरूप हो जाता है। ब्रह्माग्नि में सव शरीर दग्ध होते हैं, पर केवलशरीर दग्ध नहीं होता। सद्गुरु की कृपा से परम पुरुष का ज्ञान होने पर केवलशरीर का त्याग होगा और इस देह या स्वरूप देह की प्राप्ति होगी। जीव तभी स्वरूप में स्थित होकर भगवान के पास पहुँच सकेगा और उसे वापस नहीं आना पड़ेगा। सन्तों में से अनेक सूफी साधक नासूत, मालकूत प्रभृति आध्यात्मिक भूमि को स्वीकार करते हैं। सन्तगणों ने इन सभी भूमियों को अपने भाव से रंजित कर प्रकाशित किया है। इन सभी भूमियों से उर्ध्व परमपुरुष का अपना धाम सत्यलोक अवस्थित है। इसके नीचे विभिन्न भूमियों में विभिन्न पुरुषों का अधिष्ठान स्वीकृत किया गया है। सत्यलोक में सभी सत्यपुरुष रूप धारी हैं। हंस अर्थात् जीव की आत्मा, सत्यलोक पर्यन्त उत्थान कर, काल अथवा कालपुरुष से छुटकारा पाती है। सत्यपुरुष के अधीन असंख्य द्वीप हैं। सभी द्वीप में हंस स्वाधीन भाव से परमानन्द में विहार करते हैं। इस स्थान में स्त्री पुरुष भेद स्तिमित है। यहाँ पर काल का भोग है ही नहीं। कारण सत्यलोकवासियों को काल-पुरुष नमस्कार करते हैं [द्रष्टव्य कवीर, मन्सूर, स्वसंवेदार्थ प्रकाश-परमानन्दजी कृत, कवीरकृत् वीजक पर रींवानरेश विश्वनाथ सिंह जी की टीका, गुरुज्ञान प्रकाश-साकेतानन्दकृत्] सन्तगणों द्वारा वर्णित सत्यलोक अखण्ड महायोग के अनुसार (आंशिक भाव से) मन के अवतरण के पश्चात् आविर्भूत ज्योतिर्मय ज्ञान राज्य के अनुरूप है। किन्तु ज्ञान राज्य का वैशिष्ठ है कि वह पृथ्वी पर प्रतिष्ठित है एवं पृथ्वी के रूपान्तरण से आविर्भूत है।

इसके सभी अधिवासीवर्ग रक्तमांसमय अमरदेह सम्पन्न हैं और ज्ञानराज्य सृष्टि के ही अन्तर्गत सकल आत्माओं का वासस्थान है। एक समय सभी आत्माओं को इसमें प्रविष्ट होना होगा। ज्ञान राज्य से परे, विज्ञान राज्य का संधान संत साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता।

*

सृष्टि का उन्मेष

(प्राण-काल-मन)

संलग्न चित्र के विश्लेषण द्वारा उसके वास्तविक स्वरूप की धारणा कर सकने पर अखण्ड महायोग के भागवत आदर्श को कुछ अंश में समझा जा सकता है, यह आशा करता हूँ। विषय अत्यन्त कठिन है, तब भी पूर्व संस्कार वर्जित होकर सरल हृदय से ग्रहण करने की चेष्टा की जाये तो यह एकान्तिक रूप से दुर्बोध नहीं रहेगा। शास्त्र में, लोक व्यवहार में, योग शब्द अनेक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु वे सब अर्थ अखण्ड महायोग का तात्पर्य वहन नहीं करते।

सृष्टि के अतीत जो अवस्था है, उसकी धारणा सृष्टि के अन्तर्गत स्थित किसी भी शब्द से नहीं की जा सकती। अतएव सृष्टि से पूर्व क्या था? इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की धारणा कर सकना सम्भव नहीं। उसे सत् या सत्तामय अथवा असत् या सत्ताहीन दोनों कहना सम्भव है। सृष्टि में सदसत् अथवा भाव और अभाव संज्ञा से जो समझा जाता है, ठीक उसी के अनुरुप कोई भी अवस्था सृष्टि के पूर्व नहीं थी। वास्तविकता यह है कि उस अवस्था को समझाने के लिये जागतिक भाषा में कोई भी शब्द पर्याप्त नहीं।

(१) सत् (२) असत् (३) सदसत् एवं (४) इन दोनों से अतीत--इन चारों विकल्पों में कोई भी सृष्टि की प्राग् अवस्था को स्पर्श नहीं करते। चित्र में जो "म" अक्षर से विन्यस्त है, वही इस मूल अवस्था का द्योतक है। वहाँ से सृष्टि की स्वाभाविक धारा प्रसारित होती है। सर्वप्रथम प्राण-और-काल आविर्भूत होते हैं। प्राण है स्पन्दनात्मक गाढ़ ज्योति स्वरूप और काल है घोर अन्धकारमय। प्राण चैतन्य है। जड़ या अचित्, काल के अन्तर्गत है। प्राण और काल अथवा आलोक एवं अन्धकार परस्पर एक दूसरे को नहीं जानते। आलोक निरवच्छिन्न आलोक है। उसके साथ अन्धकार का कोई सम्बन्ध नहीं। अन्धकार है इसका बोध उसे नहीं अतएव वह स्वयं "आलोक" है, इसका भी बोध वहाँ नहीं। अथच् वह शुद्ध आलोक या अद्वितीय प्रतिद्वन्दिहीन चिन्मात्र है। स्वयं "म" से अर्थात् किसी अवस्थान्तर से आविर्भूत हुआ है, इसका कोई बोध आलोक को नहीं है। आलोक स्वयं को कहीं से उद्भूत नहीं मानता। अतः वर्णन करने के लिये उसका निर्देश "अनादि" शब्द द्वारा किया जा सकता है। पक्षान्तर से प्राण के समान काल भी निरपेक्ष स्वतंत्र सत्तारूप है। कालरूपी अन्धकार आलोक को नहीं पहचानता।

वह आलोक (प्राण) के समान अद्वितीय एवं प्रतिद्वन्दिहीन है। प्राण जिस प्रकार विशाल एवं अनन्त है, वैसे ही काल भी विशाल एवं अनन्त है। दोनों में न कोई योग है न संघर्ष। अतएव दोनों शब्दों का प्रयोग नहीं हो सकता। कारण द्वितीय बोध किसी को नहीं है। प्राण के समान काल भी 'म' से उद्भूत है। किन्तु इस उद्भव का बोध भी काल को नहीं। अतः इसका एक आदि विन्दु भी है, यह नहीं कहा जा सकता। इसीलिये काल का वर्णन "अनादि" शब्द से करना युक्ति संगत है। "म" नामक जिस अवस्था का पहले वर्णन किया गया है, उसे भी इस प्रकार का वोध नहीं है कि उसी से प्राण, काल या आलोक, अन्धकार दोनों का प्रसार हुआ है। अतः एक प्रकार से आलोक, अन्धकार, और "म" ये तीनों एक अव्याकृत अवस्था हैं।

सृष्टिपूर्व की यह अवस्था मनुष्य की बुद्धि के लिये अगम्य है। प्राण पूर्ण है काल भी पूर्ण है। एक प्रकार से सृष्टि से अतीत की अवस्था भी वही है। संक्षेप में वह द्वितीय विरहित केवल अवस्था है, मानो वहाँ एक अकेला भाव, शून्यभाव नित्य विद्यमान है। यह सत्य है कि 'म' से प्राण और काल का आविर्भाव हुआ है। किन्तु आविर्भाव काल में इसे प्रमाणित कर सकने वाला किसी भी दिशा में कोई भी नहीं था। इस आविर्भाव के मूल में इच्छाप्रभृति कुछ भी कल्पनीय नहीं। इच्छा, कर्म, प्रभृति शक्तिराज्य का व्यापार है। आदि सृष्टि में शक्ति की कारणता किस प्रकार से सम्भवपर हो सकेगी? जो परवर्ती काल में उद्भूत है वह पूर्ववर्ती काल में अवस्थित होकर कार्योत्पत्ति का नियामक कैसे हो सकेगा? पक्षान्तर से, जहाँ काल का आविर्भाव ही नहीं है वहाँ कालगत क्रमबुद्धि द्वारा पौर्वापर्य निरूपण सम्भव नहीं। विश्लेषण मूलक वोध की सहायता हेतु यह क्रम आवश्यक है। अतः यह वोध का क्रम है, काल का क्रम नहीं। किन्तु जहाँ वोध का ही आविर्भाव नहीं, वहाँ काल का क्रम तो असम्भव है ही, वोध के क्रम की कल्पना कैसे होगी? सृष्ट जीव के द्वारा श्रष्टा का निरूपण करने की चेष्टा कभी सफल नहीं होगी। यह उक्ति सत्य है।

प्राण और काल के आविर्भावोपरान्त मन का आविर्भाव हुआ। प्राण और काल जहाँ से आविर्भूत हुये, ठीक वहीं से मन का आविर्भाव नहीं है। प्राण और काल का आविर्भाव एक ही समय हुआ किन्तु मन का आविर्भाव हुआ उसके पश्चात्। वस्तुतः आविर्भाव एक साथ ही हुआ—उपलब्धि वाद में हुई। जिसके प्रभावशतः 'म' से आलोक और अन्धकार स्फुरित हुआ उसे क्षण कहते हैं। क्षण 'म' का साम्यभाव भंग करके उसे आलोक एवं अन्धकार रूप में परिणत करता है। वस्तुतः क्षण आलोक एवं अन्धकार की सन्धि है। मन, क्षण से आविर्भूत होता है। उसका उपादान क्या है? यह उसके उद्भव काल में नहीं जाना जा सकता। मन

उस समय किस अतल में निहित था, एवं कहाँ से उसका अकस्मात् स्फुरण हुआ यह अज्ञात है। तब भी स्फुरण के मूल में क्षण ही था यह सत्य है। मन के समान ही क्षण का उत्पत्तिस्थान क्या है? यह कहना सम्भव नहीं। कर्मी अपने कर्म द्वारा उसका साक्ष्य पा सकता है, कर्महीन को भाषा द्वारा नहीं बताया जा सकता। वास्तव में मन एवं क्षण, दोनों का मूल अदृश्य है।

एक प्रकार से कहा जा सकता है कि 'म' का स्पन्दन आलोक या प्राण है। एवं आलोक का स्पन्दन मन है। पक्षान्तर से यदि अन्धकार या काल 'म' से उत्पन्न हुये है तथापि वे स्पन्दनात्मक नहीं हैं। अन्धकार में जो मन निहित है, उसमें भी कोई स्पन्दन नहीं।

आलोक एवं अन्धकार के मध्य एक ही सत्ता है। सत्ता एक होने पर भी स्थानभेद वशतः पृथक्‌भाव से प्रकाशित होती है। एक ही मन आलोक में चंचल रूप से और अन्धकार में स्थिर रूप से विद्यमान है। यद्यपि उभय में एक सत्ता है, तथापि दोनों मन एक प्रकार के नहीं। इसके मूल कारण का नाम क्षण है। यहीं मन का प्रकृत अस्तित्व है। क्षण से, क्षण के प्रभाव से, मन कार्य करता है। तथा क्षण के ही प्रभाव से मन लुप्त हो जाता है। स्पन्दन एवं निःस्पन्द भाव, इन दोनों के मूल में क्षण है। जिस स्थान से आलोक एवं अंधकार ये दोनों एक साथ निर्गत हुये हैं, उसके प्रतीकस्वरूप 'म' अक्षर पर मनन करने से उपलब्धि होगी कि इसकी अन्तःस्थित ज्योति ही प्राण है। इस 'म' से आलोक एवं अन्धकार इन दोनों का पृथक् भाव से उदय हुआ है। इस अन्तःस्थित ज्योति को जिसने धारण किया है वह रेखा क्षण की प्रतीक है। अर्थात् काल और चैतन्य के मूल को क्षण के अतिरिक्त नहीं जाना जा सकता। क्षण ही दोनों का मूल है। 'म' से आलोक और अन्धकार का उद्‌भव हुआ है। आकार की अपूर्णता के कारण उसे समझने में कठि-नाई होती है। आकार पूर्ण नहीं है, अतः समझने का कोई उपाय नहीं। 'म' की अन्तः स्थित सत्ता को जानने के लिये इस क्षणरूपी रेखा को आयत्त करना होगा। आदिसृष्टि के आरम्भ में 'म' की अन्तःस्थित सत्ता, रेखा भेद करके निम्नद्वार अवलम्बन पूर्वक बहिर्मुख होती है। इस द्वार का अवलम्बन लेकर आलोक एवं अन्धकार दोनों बहिर्गत होते हैं। जहाँ दो होते हैं, वहाँ दो के मध्य में, अवकाश में, कुछ न कुछ रहता ही है।

वर्त्तमान प्रसंग में अवकाश स्थित इस सत्ता का नाम मूलमन है। यह विराट आलोक में जिस प्रकार है, उसी प्रकार अन्धकार में भी है। दोनों में ही इसका व्यष्टिरूप है। जब 'म' से सृष्टिकाल में धारा निर्गत हुई तब देखा गया कि इस धारा के भीतर आलोक एवं बाहर में अन्धकार है, मानों गाढ़ विशाल अन्धकार के भीतर आलोक जल उठा हो।

बाहर अन्धकार है, अतएव भीतर स्पन्दन उठा। इस स्पन्दन से ऊँकार की सृष्टि हुई। अन्धकार वामावर्त्त है। अर्थात् बाहर बाईं ओर घूम रहा है एवं आलोक दक्षिणावर्त्त गति से भीतर घूम रहा है। आलोक से सृष्टि हो रही है। परन्तु अन्धकार से सृष्टि नहीं होती। अन्धकार "म" को केन्द्र बनाकर उसके चारो ओर घूम रहा है। घूम रहा है अपने मन के बल से। (अर्थात् अन्धकार स्थित जिस स्पन्दहीन मन की बात पहले लिखी जा चुकी है यह उसी का प्रभाव है) यह घूर्णन क्षणकृत् है। आलोक के घूर्णन का नाम है सृष्टि। आलोक का घूर्णन भी क्षणकृत् है। लेकिन बाहर से उसकी उपलब्धि असंभव है।

सृष्टि का आदि रूप प्रणव है। प्रणव से पुनः पुनः सृष्टि का आविर्भाव हो रहा है। प्रणव के पुच्छ से धरा एवं अंधकार की सृष्टि होती है। मन द्वारा इस सृष्टि का प्रमाण पाया जा सकता है। चित्रस्थ प्रणव में मध्यस्थित "क्षीत पटल" मन का प्रतीक है। प्रणवस्थ 'उ' कार का प्रथम विन्दु है शान्तभाव। यह प्राण का द्योतक है। प्राण एवं मन दोनों मिलित भाव से "उ" रूप में परिणत होते हैं। "उ" का उर्ध्वांशं प्राण एवं निम्नांश मन है। प्राण एवं मन से अतीत की अवस्था "म" का सृष्टि मुख या निम्नद्वार है। सृष्टिमुख· क्षण द्वारा अर्थात् "म" की रेखा द्वारा सामंजस्यपूर्ण भाव से रक्षित है। क्षण, जागतिक ज्ञान से अतीत वस्तु है। युग युग से क्षण का अभाव चला आ रहा है। आलोक राज्य में अनुभव का उदय होता है। अंधकार राज्य अनुभव रहित है। अनुभव का अभाव ही क्षणतत्व का मूल है।

आलोक शेष होता जा रहा है। कारण आलोक के मन में कर्म सम्पादित हो रहा है। अन्धकार आज पर्यन्त उदघाटित नहीं हुआ। अन्धकार घूर्णन के पश्चात सृष्टि होती तो वह समाप्त ही न होती। वैसी स्थिति में सृष्टि होती रहती—संहारक्रम नहीं रहता। "म" का पथ मुक्त रह गया। जन्म के पश्चात् कर्म की समाप्ति से आलोक का कार्य पूर्ण हो गया। तथापि मृत्यु के पश्चात् मूल स्थान तक गति नहीं हो सकी। क्यों कि अन्धकार द्वार खोले बैठा है। क्षण अंधकार का स्वरूप उद्घाटित नहीं होने देता। वस्तुतः काल में वोध या अवोध कुछ भी नहीं।

मनुष्य में आलोक एवं अन्धकार दोनों की स्थिति है। एक ही स्थान से दोनों का उद्गम है। चैतन्य का अवसान हो रहा है, लेकिन काल का अवसान नहीं होता। काल की रोधशक्ति ही मृत्यु है। मनुष्य का वास आलोक राज्य में (प्राणराज्य में) है, अतः वह अंधकार का अनुभव नहीं करना चाहता।

आलोक स्थित मन पूर्वोक्त प्रकार से क्रियाशील हुआ अतः आलोक ने एक विशिष्ट आकार धारण किया। मन की क्रिया के साथ साथ इस आकार का उद्भव

हुआ। आकृति के उद्भव के साथ ही मन उसी में प्रकृत रूप से रह गया। आकृति है देह—वही है प्रणवान्तर्गत "उ" कार, प्रकृति की क्रिया या मन। यह मन व्यष्टि मन है। इसका आर्विभाव "उ" कार के पश्चात् है। आकृति है नराकार—यही सृष्टि का स्वाभाविक आकार है। अन्य सब आकार इसीसे उद्भूत हैं। मन व्यष्टि हो गया, अतः उसने अन्धकार स्थित मनको अपना मानकर ग्रहण नहीं किया और आलोक स्थित स्पन्दनात्मक समष्टि मनको भी ग्रहण नहीं कर सका। वह समग्र मन की सत्ता का अखण्ड रूप से अनुभव करने से विरत रह गया। प्रणव का मन व्यष्टि है, लेकिन प्राण समष्टि है, इसमें संदेह नहीं। आलोक भी मात्र आलोक रूप है, अतः वह मन की तरह व्यष्टि नहीं हो सका।

विराट आलोक एक और अद्वितीय है। विराट अन्धकार भी एक और अद्वितीय है। मन भी एक और अद्वितीय है। परतु सृष्टि के आदिकाल में मन खण्ड होकर द्विधा विभक्त हो गया। उसका अर्धांश रह गया आलोक में एवं अर्धांश अन्धकार में। मन के द्विधा विभक्त होने में मुख्य कारण है, उसका व्यष्टिभाव। आलोक और अन्धकार में खण्ड भाव का प्रवेश नहीं था, वे समष्टि ही रह गये। मन का क्षत होना ही "उ" स्थिति है। अर्थात् महाविशाल आलोक से प्रणव का उद्भव संभवपर है। प्रणवस्थ "उ" कार सम्पूर्ण आलोक का ग्रास नहीं कर सका अतः प्राण को अपना नहीं बना सका। परन्तु मन को अपना बना लिया। मन, खण्ड था अतः निजस्व हो गया। प्राण अखण्ड था, अतः जैसा था वैसा ही रह गया। निजस्व नहीं हो सका।

प्राण और मन निजस्व होकर "मैं" "मेरा" प्रभृति का बोधोदय कराते हैं। प्राण निजस्व नहीं हो सका, फलस्वरूप प्रणवरूपी प्रथम सृष्टि में 'अहं" भाव अथवा "मम" भाव उदित होने का अवसर प्राप्त करने में अक्षम रहे।

आमित्व नहीं, फिर भी मन निजस्व हो गया। इसीसे शब्द का उत्थान है। यही प्रणव की झंकार है। शब्द ने उत्थित होकर मानों विशाल आलोक एवं प्राण को धारण किया। शब्द के साथ प्राण का सम्बन्ध है। मन के साथ देह या आकृति का सम्बन्ध है। इतने पर भी देह, शब्द, प्राण, मनादि, एकत्र मिलित होकर एकाकार नहीं हुये। शब्द ने प्राण को धारण किया। तत्पश्चात् विश्व रचना का कार्य प्रारंभ हुआ। ध्वनि रूप शब्द ने विस्तारित हो "उ" के चतुःपार्श्ववर्त्ती आलोक में संचरण किया। किन्तु आलोक के अन्तर्गत जो मन है, उसमें संचरित न हो सका। शब्द ने आलोक (चैतन्य) को अपना बना लिया, पर मन को निजस्व न कर सका। यही अभाव की सृष्टि है। सृष्टि के मूल में अभाव का सूत्रपात यहीं से प्रारंभ हुआ, ऐसा कहा जा सकता है।

पहले जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि शब्द में चैतन्य या प्राण की क्रिया होती है। मन की क्रिया नहीं होती। मन की क्रिया के लिये देह सम्वन्ध आवश्यक है। अतः सब शास्त्रों में अशरीरी वाक् या श्रुति की महिमा कीर्तित है। शरीर सम्वन्ध रहित अशरीरीवाक् या श्रुति, मन की क्रिया से रहित हैं, अतः सर्वश्रेष्ठ प्रमाण रूप में गृहीत हैं। यही वेदवादीगण का वेद है, जिसे सुधीजन स्वतःप्रमाण मानते हैं। इस वेदाख्य शब्द से अखिल जगत् की सृष्टि हुई है।

इस अवस्था में सर्वप्रथम द्वन्द भाव का आविर्भाव होता है। इसके पूर्व—अर्थात् शब्द के उद्‌गम के पूर्वक्षण पर्यन्त, देह, प्राण, मन प्रभृति के बीच परस्पर कोई संघर्ष नहीं था। शब्द के साथ साथ संघर्ष उत्पन्न होता है। फलस्वरूप गठन कार्य प्रारंभ हुआ। इस गठन कार्य या निर्माण कार्य का एक मात्र अधिष्ठाता है क्षण। क्षण पहले से ही विद्यमान था। अर्थात् निःशब्द के पूर्व से क्षण की सत्ता स्वीकृत होती है। फिर भी वह अव तक रचना कार्य प्रारंभ नहीं कर सका था। शब्द विना रचना नहीं हो सकती। जवतक शब्द उत्थित नहीं हुआ तबतक सृष्टि कार्य का श्रीगणेश नहीं हो सका। अतएव इस सृष्टि व्यापार के मूल में एक ओर शब्द और श्रुति कारण है, दूसरी ओर ईश्वर या अधिष्ठाता के रूप में क्षण है।

अवतक बोध का उदय नहीं हुआ था। रचना के प्रथम स्तर में निर्माण हुआ अनन्त प्रकार के अमर सत्व और अमरलोक समूह का। इस सृष्टि में चैतन्य ही प्रधान है। इसमें अनन्त वैचित्र्य रहने पर भी बोध नहीं है। अतः वैचित्र्य का भान नहीं होता। इस सृष्टि में मन प्रतिवन्धक होकर पड़ा रहता है। कारण, देह के साथ मन का योग तो है, प्राण के साथ योग नहीं है। अतएव मन प्राण को निजस्व न कर सका। यदि प्राण को निजस्व कर सकता, तब प्रकृति की सृष्टि होती। मन, जब तक प्राण को पृथक् रक्खेगा तब तक प्रकृति का आविर्भाव सम्भव नहीं। जबतक प्रकृति का आविर्भाव नहीं, तब तक मर जगत की सृष्टि भी सम्भव नहीं।

पहले कह आया हूँ—मन व्यष्टि है। मन को समष्टि में परिणत करने का अधिकार एक मात्र मर देह को है। अमर सत्वगण में न तो यह सामर्थ है और न हो ही सकता है। मन को समष्टि मन में परिणत करना, मरदेह की सृष्टि का प्रधान उद्देश्य है। मन को समष्टि में परिणत कर सकने पर प्रणव भंग होगा। अर्थात् प्राचीन सृष्टि का ध्वंस होगा और मरदेह अमरत्व का लाभ करेगा। अमरत्व लाभ के लिये मरदेह की सृष्टि हुई है। जवतक मृत्यु विजित नहीं होगी तवतक मरदेह की सृष्टि का उद्देश्य पूर्ण होने की कोई सम्भावना नहीं। कारण मरदेह को अमरत्व प्राप्ति पूर्वक अर्थात् मनुष्यत्व लाभ कर अमर रक्त की क्रियाधारा द्वारा महाप्राण के आकर्षण से विज्ञान का अवतरण कराना, मरदेह प्राप्ति की चरम सफलता है। मृत्यु राज्य की

स्थिति से अमरत्व का पथ विस्मृत हो गया है। मनुष्यत्व के अवतारण हेतु मनुष्याकृति प्राप्त हुई है। जबतक मनुष्यत्व प्राप्त नहीं होगा इस आकार की कोई सार्थकता नहीं। मनुष्यत्व प्राप्ति के साथ ही यह आकार स्थायी हो जायेगा तथा यावतीय विकार से मुक्त होकर निर्मल एवं उज्ज्वल रूप प्राप्त होगा। मनुष्यत्व प्राप्ति से जो अमरत्व प्राप्त होगा, वह कायसिद्धगणों के अमरत्वानुरूप नहीं। इस विषय में सविशेष आलोचना इस ग्रंथ में अन्यत्र करूँगा।

क्षण की अध्यक्षता में शब्द से जो सृष्टि आरम्भ हुई है वह चैतन्यमयी सृष्टि है। नाना प्रकार के देव, देवी, एवं उनके उपयोगी धाम प्रभृति इसी सृष्टि के अन्तर्गत हैं। जो विस्तृत आलोक चतुर्दिक छिटका हुआ है, वह क्रमशः संकुचित होते होते, लोक लोकान्तर रूप में उद्भूत होने लगा। ये सब विभिन्न लोक, क्रमविन्यस्त स्तरसमूह रूपेण आविर्भूत हुये। विराट आलोक चारो ओर, लोकलोकान्तर के अनन्त व्यापक आश्रय रूप से, स्वयंप्रकाश सत्तारूप से, प्रसारित था। लोकसमूह, महाचैतन्य के क्रमिक संकोच निर्देशन रूप से संकोचहीन महाचैतन्य के वक्ष पर भासित होने लगे। जिस प्रकार महासमुद्र के वक्ष पर पर्वतपुंज भासित होते हैं, यह भी वैसा ही दृश्य है। यह विशाल सृष्टि, दिव्य सृष्टि के नाम से अभिहित है। इस सृष्टि के अन्तर्गत प्रत्येक सत्ता एक देवता है। खण्ड भाव से देखने पर, प्रत्येक देवता एक आलोक विकीरण केन्द्र के समान शोभित हैं। प्रति केन्द्र से, अपने-अपने अधिकारानुसार चतुर्दिक आलोक विकिरित हो रहा है। इस प्रकार प्रत्येक देवता का एक-एक प्रभामण्डल, या लोक विद्यमान है। ये सब लोक भास्वर होने पर भी नानावर्ण व्यंजित हैं। जिस विशाल आलोक से ये सब लोक उद्भासित हैं, वह वर्णहीन और सर्वव्यापक है। विशुद्ध भास्वरता है विशाल आलोक में। लोकलोकान्तर की भास्वरता आपेक्षिक है। अबतक सृष्टि में मृत्यु का आविर्भाव नहीं था। पहले जिस क्रम संकोच की बात कह आया हूँ, उसकी पूर्णावस्था का नाम विन्दु है। नित्य सृष्टि के प्रत्येक देवता में दो अवयव युक्तभाव से विद्यमान हैं। प्रथम देह या आकार, द्वितीय मन। प्राण के साथ उनका कहीं भी योग नहीं। प्राण समष्टि भाव से स्थित रह गया, वह किसी का भी निजस्व न हो सका। जबतक प्राण निजस्व नहीं, तबतक मृत्यु नामक किसी पदार्थ का अस्तित्व असम्भव है।

छिटका हुआ आलोक सर्वप्रथम एक होकर विन्दु रूप धारण करता है। इसी का नाम है, मरजगत् या मरदेह। जागतिक भाषा में इसका नाम पृथ्वी है। विन्दु समग्र सृष्टि के मध्यस्थित है। विन्दु से सर्वप्रथम बोध का उदय होता है। विन्दु में मन, प्राण, बोध एकत्र होते हैं। इस समय प्रत्येक देह में मन के समान प्राण निजस्व होता है। प्रत्येक देही का प्राण पृथक्-पृथक् हुआ एवं प्राण में व्यष्टिभाव ने प्रवेश

किया। साथ-साथ 'आमित्व' का उदय होकर, 'मैं' 'मेरा' 'मैं तुम' इत्यादि व्यष्टि चैतन्य की उत्पत्ति हुई।

बोध का उदय तो हुआ, किन्तु बोध स्थायी रूप से स्थित न रह सका। उसमें उन्मेष, निमेष या श्वास-प्रश्वास की दो क्रियायें परिलक्षित हुई, अर्थात विन्दु में बोध आया, किन्तु वह बोध स्थायी न हो सका। देह के साथ मन का योग, देवगणों में भी है। किन्तु मरभूमि में विन्दुलाभ के साथ-साथ प्राण का योग हुआ अतः बोध का आविर्भाव अनुभूत होता है। यह प्राण व्यष्टि प्राण है। इस प्राण का योग छिन्न होते ही बोध तिरोहित हो जाता है। अतः बोध का आविर्भाव है जन्म, तिरोभाव है मृत्यु। जन्म-मृत्यु के रूप में बोध का श्वासग्रहण एवं श्वास त्यागरूपी कार्य चलने लगा। इस प्रकार मर्त्यलोक की सृष्टि एवं उसके साथ-साथ श्वास का आविर्भाव प्रारम्भ होता है। इस अवस्था में विन्दु की परिणति है—कर्मभूमि रूप में। इसीलिये मरदेह कर्मभूमि है, कारण उसमें जन्म एवं मृत्यु है। कर्म कौशल द्वारा बोध को स्थायी रूप से सुरक्षित रख सकने पर मरदेह मृत्यु के अधीन नहीं रहता। वह अमर कायरूप में परिणति लाभ करता है। जिस देह में बोध का उदय नहीं, एवं मन के साथ निजस्व भाव से प्राण का योग नहीं, वह कर्म की दृष्टि से अनुपयोगी है। अतः चेतनसत्तायुक्त देवगण ज्ञान एवं सर्वज्ञत्वादि गुण सम्पन्न होने पर भी कर्म के अधिकारी नहीं होते। निष्क्रिय चेतनसत्तारूप विन्दु को केन्द्र बनाकर चारो ओर वाली उस स्थित भूमि में बोध शक्ति का अभाव है। ये सब भोग भूमि हैं, अन्य कुछ नहीं। श्वास-प्रश्वास की उपलब्धि बोध है। बोध के बिना कर्म सम्पादन सम्भव नहीं।

बोध की सृष्टि के साथ-साथ अभिज्ञता हुई कि निःस्पन्द में भी स्पन्द है। सृष्टि के पश्चात् जिस अन्धकाररूपी काल की निःस्पन्द रूप में उपलब्धि हुई थी, उसमें भी बोधोदय के साथ सूक्ष्म स्पन्दन का भान हुआ। सन्धिप्राप्ति के पश्चात् कर्त्तव्य जिज्ञासा का उदय हुआ। साथ-साथ कर्त्तव्य निरूपण के लिये शास्त्र रचना का सूत्रपात हुआ। देवता शास्त्र रचना नहीं कर सके। बोध सम्पन्न मनुष्य मृत्यु के अधीन था, लेकिन देवताओं में जन्म या मृत्यु कुछ भी नहीं। बोधयुक्त मनुष्य ही अन्धकार स्थित स्पन्दन की उपलब्धि कर सका। देवतागण स्वयं को देवता रूप से नहीं पहचान पाते। कारण उनमें विरह नहीं, आक्षेप, स्वरूप चिन्ता नहीं, यहाँ तक कि अनुभव शक्ति भी नहीं है। देवता में स्वरूप चिन्ता नहीं, फिर भी जो इन देवताओं की उपासना करते हैं और अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार इनसे सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य लाभ करते हैं, उनमें स्वरूप चिन्ता विद्यमान रहती है।

कर्म साधन की योग्यता हेतु दो वस्तु आवश्यक है, प्रथम मन, द्वितीय रक्तयुक्त देह मन है पर रक्तयुक्त देह नहीं तब तीव्रभाव से कर्म नहीं होता।

रक्तमय देह, कर्मोपयोगी क्षेत्र है। रक्तयुक्त देह से क्षिप्रभावेण कर्म सामर्थ आता है। अतः मनुष्य देह प्रकृतरूप से वास्तविक कर्मभूमि है। जैसे बोध का उदय हुआ, वैसे बोध का विनाश भी हुआ। जिस स्थान से बोध का उदय हुआ वह स्थान शब्द के अन्तर्गत है, किन्तु जहाँ बोध नहीं, वह शब्दातीत है। अतः बोध उदित होकर शब्दातीत भूमि का आश्रयण कर लीन हो गया। बोधलय के साथ-साथ माया का आविर्भाव होता है। पृथ्वी पर बोध रह गया परन्तु उसका सार अंश लय के परे चला गया। इसका नाम है चिन्मयी शक्ति। जब यह बोधातीत भूमि में देवताओं के साथ रह गयी तब देवताओं के साथ युक्त होने से इसका नामकरण हुआ महामाया। देवताओं से युक्त होने पूर्व चिन्मयी शक्ति का कोई आकार नहीं था। जिस देह से चिन्मयी शक्ति का उदय हुआ उसका अवसान हो जाने से ही चिन्मयी शक्ति निराकार, अमूर्त्त शक्ति है। देवतामूर्ति के साथ योग से इन्होंने महामाया का आकार धारण किया। देवतागण बोधरहित होने पर भी जड़त्व युक्त नहीं हैं। माया के कारण उनमें जड़त्व का समावेश है। महावस्तु के साथ मिलित होकर महामाया ने देवगणों को आच्छन्न कर लिया। यही देवतागण का जड़त्वभाव है।

इसका फल क्या हुआ? देवतागण सृष्टि के प्रथम क्षण से ही क्रियोन्मुख एवं तपस्या रत थे। अब यहां एक व्याघ्यात् का उदय हुआ। कारण देवता द्वारा सृष्टि न होकर शक्ति से सृष्टि कार्य प्रारंभ हुआ। देवगणों के जड़त्व बोध का नाम है परा शक्ति। पराशक्ति से प्रवाहित हो चिन्मयी महामाया का कार्य सम्पादन होने लगा। चिन्मयी का कार्य प्राण का है, किन्तु पराशक्ति का कार्य है (मन और प्राण के योग से सम्भूत) देह का। यह देह है "आद्याशक्ति"। इसमें मन, प्राण, बोध, अबोध, बोधातीत सब कुछ विद्यमान है। इस क्षण तक पूर्ण आधार तैयार हो गया। आधार को पूर्ण कहा गया, क्योंकि इसमें सोलह आना शक्ति का विकास है। नर देह में पन्द्रह आना शक्ति का विकास है। अर्थात् ईश्वर में छह आना तथा देवता में दस आना। जब देवगण सृष्ट होकर निष्क्रिय, उदासीन भाव से विद्यमान रहते हैं तब भावान्तर का उदय नहीं होता। यह समभाव या साम्यभाव है। वस्तुतः यह भावातीत है, इसी का नाम है ब्रह्मभाव। यह एकभाव-मात्र है। इसके पूर्व आद्याशक्ति की क्रिया के अतिरिक्त, सोलह आना शक्ति का विकास किसी में नहीं था। प्राचीन सृष्टि का मूल है आद्याशक्ति। इस सृष्टि के लयमुख में जिनकी उपलब्धि होती है, वे हैं—योगनिद्रा। वे बोधरूपा हैं। सृष्टि मुख में जिनकी उपलब्धि होती है वे काल रात्रि हैं। काल रात्रि, बोधाश्रया एवं बोध सम्पन्ना हैं। सृष्टि द्वारा जो कार्य होता है उसके मूल में मोहमाया स्थित हैं। इस प्रकार त्रिशक्ति का कार्य ज्ञात हुआ।

मरभूमि में आने का प्रथम द्वार है योगनिद्रा। यहीं से मर जगत् की सूचना होती है। सृष्टि का आरंभ होता है ब्रह्म से, एवं लय होता है योगनिद्रा से। योगनिद्रा से उत्पन्न शक्ति का नाम है—कालरात्रि। योगनिद्रा, आकाश रूपा है और कालरात्रि—धरित्रीरूपा। उभय मध्य का व्यवधान है शून्य। वह बोधरूप है। वह बोध प्रकृति है परन्तु विश्व प्रकृति नहीं। शून्य से जो सृष्टि हो रही है, नरदेह रूप जो कार्य उत्पन्न हुआ है, वह है मोहमाया। नरदेह के पूर्व मोहमाया नहीं थी। थीं केवल योगनिद्रा एवं कालरात्रि। गर्भ का कार्य, शक्तिकार्य नहीं, जननी का कार्य है। नरदेह धारी को कर्म करने के लिये इस त्रिविध शक्ति का कार्य जानना आवश्यक है। तत्पश्चात् क्रमशः कर्म शक्ति, ज्ञान शक्ति एवं भाव शक्ति की उपलब्धि होती है। कर्म शक्ति का स्थान वस्तुतः योगनिद्रारूप आकाश के उर्ध्व है। भावशक्ति की क्रिया के अन्त में गुरुशक्ति प्राप्त होती है। ज्ञानशक्ति का पूर्ण विकसित रूप है, महामाया। तत्पश्चात् भावशक्ति का कर्म होता है। इसके अवसान पर गुरुशक्ति एवं अष्टकुण्डलिनी का लाभ होगा। यहीं प्राचीन धारा का अवसान होता है। अखण्ड महायोग से जिस अभिनव सृष्टि का उदय होगा, वह इन सबसे अतीत एवं अति विचित्र है।

*

देहसिद्धि

(व्यक्तिगत कालजय)

यह प्रश्न उठ सकता है कि मृत्युजय एवं देहसिद्धि कोई नई बात नहीं। प्राचीन काल में अनेक विशिष्ट पुरुष साधन विशेष द्वारा मृत्युजय करने में समर्थ हुये थे। हठयोगियों ने कालवंचन द्वारा सिद्धदेह लाभ किया था। अन्य सम्प्रदाय के योगियों ने इसी प्रकार की देह प्राप्त की थी। ज्ञानीजन कहते है इस जगत के सभी पदार्थ अग्नि एवं सोम के संघर्ष से उत्पन्न हैं। सोम जीवन है, अग्नि मृत्यु। अग्नि कालरूपी है। अतएव उसे कालाग्नि, संर्वताग्नि, अथवा संहाराग्नि कहते हैं। सोम-कला का शोषण इसका कार्य है। अग्नि के प्रभाववश-देह सोमशून्य होकर मृत्यु को प्राप्त होता है। जब सोम का बल अधिक होगा तभी मृत्युभेद द्वारा अमरत्व का लाभ संभव है। उस समय सिद्धदेह की प्राप्ति होती है। देह, पक्व एवं अपक्व दो प्रकार की है। पक्वदेह में जरा, मरण प्रभृति किसी विकार का स्पर्श नहीं। इसी देह में मन की स्थिरता सिद्ध होती है। सिद्धदेह मे ही महाज्ञान धारण की क्षमता होती है। रसेश्वर सम्प्रदाय के आचार्यगण कहते हैं—अष्टादश संस्कार द्वारा विशुद्ध पारद से देह जरा एवं मृत्यु भय से मुक्त होता है। शिव-बीज पारद एवं गौरी बीज अभ्र, इन दोनों का संयोग, शिव-शक्ति का मिलितरूप है। इससे दिव्यदेह या रसमयीतनु उद्‌भूत होता है। यह देह मृत्युजयी है। रस, लौह को सुवर्ण में परिणत कर सकता है एवं देहभेदी होने पर देह को चिरस्थायी कर सकता है। किंवदन्ती है आदि शंकराचार्य के गुरु गोविन्दभगवत्पाद ने अपनी देह को इसी प्रक्रिया द्वारा सिद्ध किया था। इस प्रकार की देह का लाभ प्रकृत जीवनमुक्ति है।

[रसायनविद कहते हैं—प्रत्येक वस्तु के दो अंश है। स्थूल एवं सूक्ष्म, जड़-चेतन, पार्थिव-ज्योतिर्मय। सूक्ष्म श्रेष्ठ है। स्थूल और सूक्ष्म को शुद्ध करके, स्थूल में सूक्ष्म के संचार द्वारा, स्थूल को भी सूक्ष्म अवस्था प्राप्त कराई जा सकती है। द्रष्टव्य—Bon Carra Vaux on Muhammedan Alchemy in Hastings Encyclopaedia of Religion and Ethics. vol 1. P 291]

हठयोगियों में पारद की क्रिया के अनुरूप वायु की क्रिया द्वारा देहसिद्धि का वर्णन है। पारद में जो गुण है वायु में भी वही गुण है। पारद अथवा वायु, दोनों को ही बद्ध करके खेचरत्व का लाभ किया जा सकता है। तथा दोनों के मारण द्वारा नित्य जीवन का पथ परिष्कृत हो जाता है। विन्दु साधना से देहसिद्धि की संभावना

प्राचीन काल में ज्ञात थी। बौद्धों में, विशेषतः महायानी तांत्रिक सम्प्रदाय में स्कन्ध सिद्धि के नाम से देहसिद्धि का प्रचलन था, जिसकी प्रक्रिया से सिद्ध अवगत थे। सिद्धाचार्यगण के ग्रन्थों में विशेषतः सेकोद्देश्य, दोहाकोष प्रभृति में स्कन्धसिद्धि के सम्बन्ध में अनेक रहस्यों का उद्घाटन हुआ है। मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, जलन्धर प्रभृति नाथ योगीगण कहते हैं—कार्य सिद्ध न होने से महाज्ञान की धारणा नहीं की जा सकती। जलन्धरनाथ ने मयनावती को इस सम्बन्ध में अनेक उपदेश दिये हैं। सहजिया वैष्णवगणों की भावदेह भी सिद्धदेह की ही पूर्वावस्था है। भाव और प्रेम का साधन भावदेह बिना संभव नहीं। नामाश्रय एवं मंत्राश्रय के प्रभाव से प्रवर्तक अवस्था का भेद होता है। और साधक अवस्था में भावदेह के अन्तर्गत स्वभाव की साधना चलती रहती है।

अनेक ने सिद्धदेह की प्राप्ति द्वारा मृत्यु जय किया है, ऐसी प्रसिद्धि है। युग-युग में इस प्रकार के सिद्धों का संधान पाया जाता है, फिर भी उनकी संख्या अति विरल है। आगम शास्त्रानुसार मंत्र द्वारा कायसिद्धि होती है। पातंजल योग दर्शन में इसे स्वीकृत किया गया है। [श्री रमण महर्षि ज्ञान मार्ग के पथिक थे। कायसिद्धि का किंचित आभास उनके उपदेशों में प्राप्त होता है। वे "केवल" एवं "सहज" भेद से दो प्रकार की निर्विकल्प अवस्था स्वीकार करते हैं। "केवल" अवस्था में मन का स्थायी निरोध नहीं होता। कभी-कभी संस्कारवशात् मन का स्फुरण हो जाता है। सहज अवस्था में मन का स्फुरण नहीं होता। दीर्घकाल तक इस अवस्था की स्थिरता से देह का परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। क्रमशः देह अदृश्य और स्पर्श रहित हो जाता है। द्रष्टव्य रमण गीता]।

देहसिद्ध होने से ही सब कार्य नहीं होते। इसके पश्चात् तपस्या करनी होती है। सिद्धलोकों में अनेक सिद्ध पुरुष विचरण करते रहते हैं। उनमें मृत्यु नहीं, अनेक में जरा का भी अभाव है। फिर भी उनमें से एक भी पूर्णता का लाभ नहीं कर सके। अभी भी वे महाज्ञान के लिये प्रयत्नशील हैं। दीर्घ तपस्या के प्रभाव से सिद्धदेह ही दिव्यकाय या प्रणवतनु रूप में परिणत होता है। यहाँ मृत्यु नहीं है—क्योंकि काय-त्याग नहीं। प्रणवतनु के अतिरिक्त महाज्ञान को धारण नहीं किया जा सकता। प्रणव-तनु सिद्धगण के लिये भी अगोचर है।

प्रसिद्धि है कि एकवार गोरक्षनाथ के साथ वसवाचार्य के समकालीन अल्लाम प्रभुदेव ने देहसिद्धि के सम्बन्ध में आलोचना की थी। गोरक्षनाथ ने कहा था कि वे उसे ही सिद्धदेह मानते हैं जो अस्त्रद्वारा छिन्न नहीं होता, जल द्वारा क्लिन्न नहीं होता। जो देह अग्नि से दग्ध न हो एवं वायुद्वारा चालित न हो, वही सिद्ध देह है। इसे गोरक्षनाथ ने प्रत्यक्ष दिखलाया। तुलना में अल्लाम प्रभुदेव ने कहा कि सिद्धदेह

में अस्त्र के आघात द्वारा कोई क्रिया नहीं होती, यह सत्य है। किन्तु ऐसे सिद्धदेह में आघातजनित शब्द नहीं होना चाहिये। यथार्थ सिद्धदेह को कोई भौतिक पदार्थ स्पर्श नहीं कर पाता। भौतिक गुण, एवं पञ्चभूतादि सब गुणों को जय करके बाह्य स्पर्श से अनासक्त रह सकने पर, तथा सर्वत्र विरुद्ध भाव में अविरुद्ध दृष्टि रखने से, दैहिक गुण बाह्यतः दृष्टिगोचर होने पर भी, हृदय में उसका प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसी स्थिति में प्रकृत कायसिद्धि हुई है, यह जाना चाहिये। इसके पश्चात् अल्लाम प्रभुदेव ने स्वयं ऐसी कायसिद्धि का प्रत्यक्ष निदर्शन गोरक्षनाथ को प्रदर्शन द्वारा दिखलाया। (द्रष्टव्य–भविष्यत् पुराण—प्रभुलिंग लीला (शोलापुर एडिशन) अध्याय 10–50–19, उद्धरणानुसार लिंगधारण चन्द्रिका—लेखक एम० आर० साखरे, पृष्ठ 341–43)

नाथ सिद्ध कहते हैं—परा एवं अपरा भेद से कुण्डलिनी शक्ति दो प्रकार की है। गुरु आश्रय से स्वस्वरूप दशा में उसे प्रबुद्ध किया जाता है। अन्यथा पिण्ड अथवा देह सिद्ध नहीं होता। परमतत्व समस्त तत्वों से उर्ध्ववर्त्ती है। उर्ध्वशक्ति निपात के बिना उसकी उपलब्धि नहीं होती। यही निरूत्थान स्थान है। शक्ति जब इस अवस्था में विद्यमान रहती है तब (स्व–स्वरूप स्थिति में) अखण्ड शक्तिरूप में इसका वर्णन होता है। वास्तव में शिव और शक्ति अभिन्न हैं। परमेश्वर के साथ अपने पिण्ड का सामरस्य शिवशक्ति है। निज आवेश वशातः निरूत्थान दशा का संचार होने पर अनिर्वचनीय महाआनन्द का स्फुरण होता है और सारे भेदों के तिरोधान के पश्चात् महाआनन्द स्फुरित होता है। सब भेदों के तिरोधान से परमपद का उदय होता है। तत्पश्चात् निज पिण्ड का सम्यक् ज्ञान लाभ होगा। तभी उक्त ज्ञान एवं परमपद में अभेद सिद्ध होगा। परमपद के विश्लेषण प्रसंग में सिद्धगण कहते हैं :—

सहजं स्वात्मसंवित्तिः संयमः सर्वनिग्रहः।
सोपायं स्वस्वविश्रांतिरद्वैतं परमं पदम्॥

यह परमपद किसके निकट प्रकाशित होगा? जिस दृढ़चित्त योगी का मन विश्रान्त हो गया है, जो अपनी मध्यावस्था में निमग्न हैं, विशेषतः जो उत्थान रहित हैं, उनके निकट परमपद मुहूर्त्त मात्र में प्रकाशित हो उठता है। प्रकाशित होने के साथ-साथ, इसी परमपद में पिण्ड का लय हो जाता है। तब योगी सर्वज्ञ, सिद्धिसम्पन्न, इच्छाभेदी, अजर, अमर एवं देवगणों से भी अवध्य हो जाता है।

शुद्धाम्नाय के माहेश्वरगण भी देहशुद्धि की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं जोवन्मुक्ति एवं परामुक्ति तो देहस्थिति काल में होती है। देहान्त के

पश्चात् या देहपात में नहीं होती। देह एवं प्राण का ऐक्य ही मुक्ति का कारण है। सिद्धगण पृथ्वी पर जीवन्मुक्तावस्था में विचरण करते हैं। इस अवस्था में उनकी देह को शुद्धदेह कहते हैं। परामुक्ति में भी देह रहती है, उसका नाम दिव्यदेह है। इस देह से वे आकाश में अन्तर्हित रहते हैं। सिद्धदेह मृत्युजयी है। प्राकृत जगत में यह देह रहती है। लेकिन यहाँ के नियम के अधीन नहीं रहती। वह अप्राकृत है।

संक्षेप में, शुद्धदेह—स्थूल, सूक्ष्म, अथवा कारण देह से भिन्न है। ये तीनों प्रकार की देह अशुद्ध माया से उत्पन्न होती हैं। शुद्ध देह का उपादन है विशुद्ध माया। मृत्युकाल में स्थूल–सूक्ष्म में तथा सूक्ष्म कारण में विलीन हो जाता है। एकमात्र देह ही रह जाती है। वह अप्राकृत् शुद्ध होने पर भी सम्पूर्णरूपेण शुद्ध नहीं है। कारण इसमें विकार रह जाते हैं। इस एकीभूत विकारशील शोधित उपादान को शुद्ध माया के नित्य शुद्ध विकारहीन उपादान में परिणत करने हेतु विशेष क्रिया की आवश्यकता है। योगीगण इस प्रक्रिया विशेष को "वेध" कहते हैं। वेध के फल से देह निर्विकार होता है एवं जरामरण वर्जित होता है। शुद्धमार्गी योगिगण की सहायता विना वेध क्रिया निष्पन्न नहीं हो सकती।

शुद्ध देह प्राप्ति द्वारा जीवन्मुक्ति संभव है। जीवन्मुक्त, एक ओर मायिक जगत से, एवं अपरदिक् चिन्मय धाम से संयुक्त है। अशुद्ध मायिक जगत के साथ उसका सम्बन्ध नहीं रहता। दिव्यदेह प्राप्त होने पर परामुक्ति अवस्था में तो जरा भी सम्बन्ध नहीं रह जाता। यहाँ तक कि शुद्ध माया के जगत से भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अथच परामुक्ति में देह रहती है। सिद्धमत से प्रकृत ज्ञानदेह का यही स्वरूप है। सिद्धदेह शुद्ध होने पर भी जड़ है। दिव्यदेह अजड़ है। सिद्धदेह परिवर्त्तित होकर दिव्यदेह में परिणत होती है। जीवन्मुक्त पुरुष इच्छानुकूल कालपर्यन्त, नित्य यौवन सम्पन्न हो, सिद्ध देह में अवस्थान करते हैं। दिव्यतनु द्वारा भौतिक जगत में प्रवेश सम्भव नहीं। पर यह सर्वथा असम्भव भी नहीं है। सिद्धगण कहते हैं, चैतन्य आकार व्यतीत नहीं है। चैतन्य की विशेष चेष्टा से आकार अविनाशी होता है। स्थायी आकार के अभाव में आकार का परिवर्त्तन होगा। इन्द्रिय जगत् में आकार-ग्रहण होता है। आकार द्वारा आत्मा व्यक्त होती है। निराकार आत्मा अव्यक्त है अथः आत्मपदवाच्य नहीं।

कायसिद्धि के सम्बन्ध में संक्षेपतः जो कुछ कहा गया, वही पर्याप्त है। काय-सिद्धि के विशेष उपादान रूप में महात्मा ईसा के अन्तरंग शिष्य जान का नाम उल्लेखनीय है। उनकी कायसाधन प्रणाली को विशेषज्ञों ने परम्परा क्रम से प्राप्त किया है। उन्होंने इस प्रणाली का जो परिचय प्रदान किया हैं, उसका सारांश यहां

प्रदत्त है। इस मत से आत्मज्ञान लाभ के लिये आत्मविकास एवं आत्मविकास के लिये आत्म दृष्टि और सुप्तभावेन अवस्थिता सृष्टिकारिणी एवं पुनर्गठनकारिणी सकल शक्ति का जागरण आवश्यक है। सब शक्तियां, मनुष्य की आभ्यन्तरीण प्रकृति में इस समय भी सुप्त हैं। इनके जागरण द्वारा मनुष्य चरम अवस्था में अनन्त सौन्दर्य-मय, मृत्युरहित, स्वच्छ आकाशीय देह सम्पन्न विशिष्ट दिव्य सत्व रूप में परिणत हो सकता है। तब प्रकृत दिव्यजन्म का लाभ होगा। अर्थात् स्वकीय गर्भ प्रकृति की गुप्त सत्ता से स्वयंप्रकाश अमर देह रचित होती है। इसका नाम है "Birth from above"। पूर्ण भगवान विश्व के अतीत हैं, अथच् विश्व के प्रति अणु परमाणु में व्याप्त हैं, वे एक अद्वितीय हैं, सर्व संख्यामूल हैं। वे कभी भी अपने एकत्व का त्याग नहीं करते, भग्नांश नहीं होते। उन्हे सत् या असत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उनका प्रथम प्रकाश है, सत्यराज्य या सत्यलोक। यह भाव जगत् है। भाव जगत् का भाव सकल व्यक्त जगत के यावतीय पदार्थ का नित्य आदर्श है। व्यक्त और समष्टिभूत भावराशि एक है; इसका नामान्तर है महाभाव। असंख्य व्यक्त भावों की एकीभूत अवस्था ही सत्यलोक का मूल स्वरूप है। यह स्वरूप व्यक्त है, क्रम भी व्यक्त है। एक है पूर्ण भगवान की अनुच्चारित वाणी तथा अपर है उच्चारित वाणी। पूर्ण भगवान एवं उनसे प्रकाशित पूर्वोक्त महाभाव की अभिव्यक्ति का द्वार है, मूल बाह्यसत्ता। संत जान ने इसका नाम रक्खा है Archeus। संत जान का यह सिद्धान्त शैवागम के अनुरूप है। संत जान ने जिसे Archeus या मूल बाह्यसत्ता कहा है, वह विन्दु—महामाया है। जिसे Logos. या महाभाव कहा है, वह चित् शक्ति है। पूर्ण भगवान है शिव। द्वैतमत से चित् शक्ति या समवायिनी शक्ति, एवं विन्दु की उपादान शक्ति, सब नित्य है। सृष्टि मूल में विन्दु का विक्षोभ है। विक्षोभ के मूल में विन्दु के उपर चित् शक्ति का आघात विद्यमान है। यदि चित्शक्ति क्रियाशक्ति रूप से विन्दु पर आघात नहीं करती तो विन्दु क्षुब्ध नहीं होता। शुद्ध जगत् का मूल उपादान विन्दु अथवा महामाया, नित्य है। इसका एक मलिन रूप है, वह भी नित्य है। उसका नाम है माया। माया क्षुब्ध होकर अशुद्ध जगत् के उपादान रूप में कार्य करती है। जिसे Pneuma कहा गया, वह ज्योति स्वरूपा है। चित्शक्ति के साथ विन्दु संघर्ष से इसका स्फुरण होता है। जगत की यावतीय शक्ति की क्रिया के मूल में इस ज्योति की क्रीड़ा चल रही है।

जब यह मूल सत्ता क्षुब्ध या विभक्त होती है तब वह प्रथम सूक्ष्म-तदनन्तर स्थूल व्यक्त जगत् के जडांश में परिणत होती है। यही आदि द्रव्य है। पूर्ण भगवान के साथ इसका सम्बन्ध है एवं महाभाव की पूर्ण सत्ता की स्थिति में, इसे द्वैतवाद भी कहा जा सकता है। संन्त जान इसे नही मानते। उन्होंने महाभाव एवं मूलसत्ता को

समकालीन कहा है। महाभाव, मूल वाह्यसत्ता में एवं मूल वाह्यसत्ता महाभाव में प्राण शक्ति रूप से स्फुरित होती है। इसकी किरण सर्वत्र विकीर्ण होती है। महाभाव की यह ज्योति ही मूल शक्ति है। यह जड़ वस्तु की प्रत्येक अवस्था में निहित है एवं सभी प्रकार के परिवर्त्तन संघटित करतीं है। इस मूल शक्ति का नाम है Pneuma। ईसाई सम्प्रदाय में यह "पवित्र आत्मा" संज्ञा से अभिहित है। मनुष्य देह की इस शक्ति का Parakleitos नाम से ईसाई धर्म ग्रंथों में उल्लेख है। इसके द्वारा विकृत वस्तु का संशोधन एनं पुनर्गठन सम्पन्न होता है। प्राचीन मनीषीगण पूर्वोक्त भाव जगत् से सूक्ष्म जगत् एवं सूक्ष्म जगत् से स्थूल जड़ जगत् के आविर्भाव को स्वीकार करते हैं।

विश्व में जो कुछ है, वह मनुष्य में भी है। मनुष्य में जो है वह भगवत् सत्ता में है। मनुष्य का व्यक्तित्व भगवान का अभिव्यक्त स्वरूप है। जैसे विश्व के तीन देह हैं वैसे ही विश्व के प्रतीक मनुष्य के तीन देह हैं। इनमें स्थूल देह रक्तमांसमय हैं। यह सर्व परिचित है। इसके पश्चात् सूक्ष्मदेह एवं एवं सूक्ष्म के पश्चात् ज्योतिर्मय कारण देह है। इसे Pneumatic देह कहते हैं। त्रिदेह के साथ अतीन्द्रिय भूतचतुष्टय और सूर्य, चन्द्र एवं पृथ्वी का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के लिये वायवीयदेह, जलीयदेह, प्रभृति नाम का उद्भव हुआ है। चान्द्रदेह और सौरदेह की उत्पत्ति का यही कारण है। जिसे ज्योतिर्मय कारणदेह कहा जाता है वह भावमय आकार मात्र है। ठीक देह नहीं। इसमें अभिव्यक्त चैतन्य या Pneuma विराजित है। भूत और शक्तिरूप समग्रसृष्टि इसी ज्योति से उद्भूत है। अतः इसका नाम कारण देह है। समस्त निम्नवर्ती प्रकृति की आकृति के मूल में वेष्ठनीरूप अण्डाकृति में यह विद्यमान है। इस प्राणमय अण्ड के मध्य में अर्ध अव्यक्त भाव से पूर्वोक्त Paraklotios का स्वरूप गुप्तभाव में स्थित है। इसे जाग्रत कर जीवन्त विद्युतरूप में परिणत किया जा सकता है। यही कुण्डलिनी है, जिसे ग्रीक भाषा में Speirema अथवा नाग कुण्डलीरूप कहा गया है। दीक्षा के समय यह शक्ति पूर्ववर्णित अण्डाकार ज्योति के अन्तर्गत, मूलवस्तु से मृत्युहीन सौरदेह का निर्माण करती है। सौरदेह मृत्यु के अधीन नहीं। इसका नाम Augoeides है यह भावदेह नहीं, अथच् भावदेह है। अर्थात् भावदेह के ऊपर सिद्धदेह रूप से इस मृत्युजयी देह का निर्माण हुआ है। यह भावदेह के अनुरूप है, अथच भावदेह नहीं है। इसे सौरदेह कहने का औचित्य है। कारण, देखने में सूर्य के समान स्वयप्रकाश एवं सुवर्ण के समान उज्वल है। जो सिद्धदेह की स्वरूपालोचना के विशेषज्ञ हैं उनका कथन है, यह देह परमाणुभावापन्न, अणुसमष्टिमात्र नहीं, अर्थात् वह एटामिक एवं नान मालिक्यूलर उपादान से रचित नहीं है। एटामिक होने के कारण अखण्ड,

अविभक्त एवं अविभाज्य है। मनोमयदेह अथवा चान्द्रदेह अवलम्बन से भाव-शक्ति ही सूक्ष्म देह में कार्य करती है। इस देह के संस्थान आणविक हैं। तब भी सूक्ष्म देह के मूल उपादान की अपेक्षा, यह अत्यन्त सूक्ष्म उपादान से निर्मित है। मनोमय आकार स्थूल के अनुरूप है एवं सकल इन्द्रियों से अगोचर है। यह रजत् के समान शुभ्रवर्ण है।

सिद्धदेह अथवा दिव्यदेह के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया, उससे विदित होगा कि प्राचीन काल से देहसाधन की प्रणाली अल्पाधिक परिमाण में जगत् में प्रचलित थी। अखण्ड महायोग के दृष्टिकोण से आलोचना करने पर विदित होगा कि इस प्रकार की देहसिद्धि का मूल्य उतना अधिक नहीं। कारण वह रक्तहीन अवस्था है। मरदेह का रक्त सिद्ध न होने तक काल का विनाश संभव नहीं। कर्मशक्ति के प्रभाव से मरदेह का रक्तशोषण कार्य सम्पन्न होता है। सिद्धदेह में सब रहता है, अस्थि, मज्जा, त्वक् प्रभृति। मात्र शोणित नहीं रहता। रक्त का आश्रय लेकर कालवायु देह में कार्य करती है। देह यदि रक्तहीन हो तब कालवायु कार्य नहीं करती। अतएव मृत्यु विजित होती हैं एवं साधारण श्वास प्रश्वास अस्तमित हो जाता है। किन्तु रोमकूप की, परमाणु एवं त्वचा की श्वास शेष रह जाती है। वाह्य वायु धक्का देकर वाहर चली जाती है। वायु रक्तहीन अवस्था में भीतर कार्य नहीं कर सकती। रक्त से ही मरभाव का जन्म होता है। मर में प्रश्वास है। अमर में मात्र श्वास है, प्रश्वास नहीं। इसीलिये वस्तुतः सिद्धदेह कालाधीन है। सिद्धदेह का और एक दोष यह है कि वह मरदेह के साथ मिल नहीं सकती। मिलते ही उसमें मरभाव का संचार होता है। यदि मरदेह का कर्मस्थान शुद्ध हो तो मिलने से उतनी क्षति नहीं होती। मर के साथ मिलने से यह शंका होती है कि कालवायु के साथ कहीं रक्त का अंश न आ जाये।

श्वास प्रश्वास एक हो जाने पर भी योगी मृत्यु के ही अधीन रहता है। कारण कालवायु रह जाती है एवं उसका आघात रोमकूपों में लगता है।

[रक्त के अभाववशतः सिद्धगण, अपनी देह मनुष्य के स्पर्श से दूर रखते हैं। लिंगदेह स्थित रस, सिद्धदेह का आच्छादन किये रहता है। रस कर्म का घेरा है। सिद्धदेह इस घेरे में रहती है। रक्त बाह्यतः कर्मशक्ति रूप में नहीं प्राप्त होता। जब किसी मनुष्य को दर्शन देने की इच्छा होती है तब उसकी कर्मशक्ति के आकर्षण द्वारा दर्शन दिया जाता है। जब योग्य व्यक्ति की कर्मशक्ति या रक्त की क्रिया इस आवरणरूप रस को भेदित करती है तब दर्शन मिलता है]

यह त्रुटि सिद्धदेह में वर्तमान है। किन्तु अखण्ड महायोग में ऐसा नहीं। पूर्ववर्णित सिद्धदेह के व्यापार में रक्त शून्य हो जाता है, अतः काल पूर्ण होता है।

समाप्त नहीं होता। यदि रक्तक्षय न हो एवं अमरत्व का उदय हो सके तभी काल का नाश सम्भवपर है। जब तक मर एवं अमर एक नहीं होते तबतक काल का नाश सम्भवपर नहीं। इस प्रकार मृत्युहीन देह में भी काल की क्रिया रह जाती है। जिह्वा के नीचे सितार के तार के समान गुच्छाकृति अनेक शिरायें विद्यमान हैं। ये सब नाभिपर्यन्त प्रसारित हैं। उन्हें छिन्न कर सकने पर इस पदार्थ द्वारा रोम कूपों का द्वार रुद्ध किया जा सकता है।

सिद्धदेह स्तर लाभ नहीं करती। वह शून्य में स्थित रहती है। आत्मा स्तर प्राप्त करती है। देह की स्तर प्राप्ति नहीं होती। कारण जिसे जिसका अभाव है, वही वह पाता है। देहसिद्ध पुरुष एकलक्ष्य है। जिस क्षण में वे सिद्धिलाभ करते हैं, वह क्षण स्थायी हो जाता है। अतः वह निष्क्रिय होता है। जगत में आविर्भूत होना, भक्त पर कृपा करना, यह सब काल द्वारा घटित होता है। काल ही यह सब कराता है। अतः कहा गया कि सिद्धदेह भी काल के अधीन है।

कायसिद्ध पुरुष संसार का दुःख नहीं देख पाते। उनकी दृष्टि में एक भिन्न दूसरा नहीं भासता। उनमें कृति या भोग नहीं रहता, स्मृति भी नहीं रहती। किन्तु रक्त की अमरता से, अर्थात् भावशक्ति के उद्यापन द्वारा निजस्व मन की प्राप्ति के साथ-साथ, देह चैतन्य-लाभोपरान्त स्मृति अक्षुण्ण रहती है। कायसिद्ध किसी के बारे में कुछ नहीं जानते। न देखने पर कुछ भी नहीं कह सकते। देख सकने पर ही बोल सकते हैं। लेकिन रक्त के अमरत्व में ऐसी परिच्छिन्नता नहीं रहती। कायसिद्धि मरदेह की अमरता है। किन्तु योगी जब कर्म पूर्ण करने के पूर्व मरणान्त में स्तर गमन करते हैं तब देह नाश के पश्चात् नवीन देह प्राप्त होती है। यह देह पिता-माता से उत्पन्न देह नहीं। यह देह रक्तशून्य होने पर भी अबाध स्मृति युक्त है। अबतक मन की साधना पूर्ण नहीं हुई अतः आज तक अखण्ड चैतन्यमय देह जगत् में प्रकाशित नहीं हो सकी। सिद्धदेह को बहुतों ने प्राप्त किया, परन्तु कोई भी काल को पूर्णतः समाप्त नहीं कर सका।

★

विशुद्ध सत्ता का उदय

कालनाश का उपक्रम

इस जगत् की सृष्टि होने के साथ ही इस संसार में जन्म-मृत्यु का प्रवाह आरम्भ हो गया। मरजगत् कर्म जगत् है। कर्मभूमि है। यहाँ प्राणिमात्र कर्म करने के लिये जन्मग्रहण करते हैं। रक्तमय मरदेह के अतिरिक्त कहीं भी बोध का उदय नहीं होता। बोध के अभाव में कर्म सम्भव नहीं। कर्म पूर्ण करने के लिये मरदेह ग्रहण करना आवश्यक है।

मरजगत् में मनुष्य जन्म का यही तात्पर्य है। लेकिन इससे क्या होगा? आज पर्यन्त कोई भी मनुष्य जन्म लेकर कर्म सम्पूर्ण नहीं कर सका। वास्तविक कर्म क्या है? अधिकांश प्राणी नहीं जानते। उनकी तो बात अलग है! लेकिन जिन्होंने किंचित परिमाण में पहचाना है—वे कर्मप्रवृत्त होने पर, एवं अक्लान्त परिश्रम से कर्म करने पर भी, कर्म का उद्यापन नहीं कर सके। यदि कर्मोद्यापन कर सकते तो उन्हें अपनी देह का त्याग नहीं करना होता। वे यहीं अमर राज्य की स्थापना करने में समर्थ होते। उर्ध्वलोक एवं अधोलोक का भेद सर्वदा के लिये तिरोहित हो जाता, तथा एक अखण्ड ब्रह्ममय जगत् की प्रतिष्ठा होती। यह प्रतिष्ठापना अभी तक नहीं हो सकी। इसीलिये प्राणिमात्र कर्म जगत् में आकर कर्म पूर्ण किये विना चला जाता है। अधिकांश ने उर्ध्वजगत् में प्रवेश प्राप्त किया, किन्तु जो गन्तव्य है, उस स्थान पर्यन्त कोई नहीं जा सका। प्राण, मन एवं काल के सहयोग से प्राणमय सत्ता परमाणु रूप से सृष्टि मुख में पतित होती है। किन्तु लौटते समय महाप्राण पर्यन्त किसी की गति नहीं। उस अक्षत विशाल प्राण की प्राप्ति के लिये कर्मभूमि में आकर कर्म करना आवश्यक है। परलोकगत आत्माओं का कर्म पूर्ण नहीं, अतः आज पर्यन्त वे मूल चैतन्यप्राप्ति करने में असमर्थ हैं। उसकी प्राप्ति देह त्यागोपरान्त सम्भव नहीं। कर्म की अपूर्णता से देहत्याग घटित होता है। इसलिये जिन आत्माओं ने देहत्याग किया है या करेंगे, उनका कर्म पूर्ण नहीं, यह सत्य है। जब तक कर्म पूर्ण नहीं होगा, निष्कलंक शुद्ध पूर्णभाव का उदय असम्भव है। अतः परलोक गत सभी आत्माओं में अल्पाधिक न्यूनता विद्यमान है।

युग-युगान्तर से, कल्प-कल्पान्तर से जन्म-मृत्यु की धारा प्रवहमान है। जो भी कर्मभूमि में आये उनमें से एक भी कर्म समाप्त करके निर्मल चैतन्य में नहीं लौट सके हैं। जो वर्तमान काल में मरदेह में विद्यमान हैं, उनके द्वारा मरदेहोचित

करणीय कर्म की सम्भावना है। परन्तु जो परलोकगत हैं, उनसे यह भी सम्भावना नहीं। अतः सब प्राणियों के अन्तस्तल में इसके लिये एक आर्ति या वेदना विद्यमान है। कर्म पूर्ण नहीं हुआ, अतएव अबतक किसी का अभाव समाप्त नहीं हो सका। बाह्यतः चाहे जितना भी आनन्द हो, या उत्सव जनित मत्तता हो, अन्तर के अन्तःस्तल में अभाव की एक अव्यक्त वेदना से सभी व्याकुल हैं। किसी की वास्तविक प्राप्ति नहीं हो सकी। यदि एक को भी सम्यक् प्राप्ति होती तो उसकी सुशीतल छाया से समग्र तापित जगत् शान्ति लाभ करता। जगत में यह हाहाकार नहीं रहता। दुःख का अस्तित्व सबको, समभाव से, आघात पहुँचता है, लेकिन दुःख के प्रतिकार का समान उपाय नहीं होता। कोई भी उपाय आजतक सर्वदुःखों की एकान्तिक एवं आत्यंन्तिक निवृत्ति करने में समर्थ नहीं।

इस विश्वव्यापी आर्ति को दूर करने का एकमात्र उपाय है—कर्म। आजतक कर्म पूर्ण नहीं हुआ, अतएव उर्ध्व जगत् में सर्वत्र एक क्षत्भाव विद्यमान है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, महाविष्णु, महागणपति प्रभृति अनन्त देवताओं के अनन्त धामों का अस्तित्व है। मनुष्य साधना द्वारा, साधना के उत्कर्षवश्, अपने-अपने भाव के अनुरूप इष्टदेवता के लोक में गमन कर सकता है। वहाँ जाकर उनसे सारूप्य लाभ करता है, उनके साथ युक्त भी हो जाता है। कहीं-कहीं अपने इष्ट देवता में 'स्व' का विसर्जन कर उनमें लीन भी हो जाता है, फिर भी उसकी अपूर्णता दूर नहीं होती। कारण, वास्तविक रूप में वह इन देवताओं का सम्यक् लाभ नहीं कर पाता। वैकुण्ठ के अधिष्ठाता विष्णु हैं। विष्णुभक्त साधना द्वारा विष्णु का सालोक्य, सारूप्य, सार्ष्टि, सायुज्य—यहाँ तक कि विष्णु में निर्वाण (लीनता) प्राप्त करने पर भी पूर्णत्वसिद्धि से दूर हैं। कारण विष्णु में निर्वाण प्राप्त करना (विष्णु में लीन होना) विष्णु होना नहीं है। विष्णुत्व प्राप्ति के साथ ही, साधक में वैकुण्ठ के विष्णु लीन हो जायें, तभी सम्यक् विष्णुभाव की प्राप्ति होगी। स्वयं विष्णु में लीन हो जाना और विष्णु को अपने में लीन करना, विभिन्न स्थिति है। अतः सृष्टि के प्रारंभिक काल से सभी साधन प्रणालियों में एक अन्तर्निहित अभाव लक्षित है।

पूर्वोक्त दृष्टान्त से स्पष्ट है कि प्रचलित साधन प्रणालियों द्वारा प्रकृत ईश्वर लाभ या प्रकृत ईश्वरत्व किसी को नहीं मिला। वास्तव में विष्णु होना ही प्रकृत विष्णुत्व प्राप्ति नहीं। सभी अपातप्रतीयमान प्राप्ति से प्रभावित हैं। इस प्राप्ति में जो अभाव अन्तर्निहित है, वह अधिकांश के लिये दुर्विज्ञेय है।

यह अभाव बोध वृथा नहीं। अभाव बोध क्रमशः संचित होते-होते कर्म का आकार धारण करता है। कर्म का अभाव ही चैतन्य का भेद कर, उर्ध्वस्थ अचेतन भूमि से विशुद्ध सत्ता रूप में मरलोकान्तर्गत आविर्भूत हुआ। विशुद्ध सत्ता आलोक

एवं अन्धकार, उभय से अतीत है। आलोक है "उ" कार रूपी प्राण, एवं अन्धकार है "काल"। आलोक से "मैं" की सृष्टि हुई है। अवचेतन अभावबोध क्रमशः संचित होते-होते, पूर्ण होने के पश्चात् उद्वृत्तभाव से मरजगत् में प्रकट हुआ। उर्ध्वलोक में विशुद्ध सत्ता के आविर्भाव के साथ-साथ, स्वभाव सिद्ध भावान्तर्गत कर्तव्य का बोध जाग उठा। आलोक एवं अन्धकार दोनों के अतीतस्थ कर्म साधन के लिये एक आर्ति उठी जो किसी वस्तु के लिये नहीं, अपितु चैतन्य के लिये है। चैतन्य से विशुद्ध सत्ता का उदय नहीं है। मरजगत् में उद्‌भूत एवं मरजगत् से उपनीत योगी, ऋषि, मुनि, सिद्ध, तापस आदि से लेकर समस्त जगत का आर्त्तनाद एक स्थान पर एकत्रित हुआ। इस एकत्रीकरण से बोध का उदय हुआ है।

उस समय एक से दो का उदय हुआ। शुद्ध चैतन्य के अन्तर्गत बोधोदय विहीन स्थिति में एक अकेला भाव रहता है। अर्थात् वहाँ एक ही है—मानो द्वितीय का अत्यन्ताभाव है। बोध का उदय होते ही, एक अद्वैत सत्ता, द्वैतमयी, दो हो जाती है। विशुद्ध सत्ता के आविर्भाव के साथ-साथ, एक अभीष्ट सत्ता दो रूप से आविर्भूत होती है। इसी का नाम है "ज्ञानगंज की सृष्टि"। उस समय एक सत्ता है अनादि सदाशिव स्वरूप। द्वितीय सत्ता है "आदि"। इस बार "म" से विराट आलोक एवं विराट अन्धकार आविर्भूत होते हैं, इस बार वही 'म' विशिष्ट आकार ग्रहण कर साकार होता है। अर्थात् "मां" बनता है। ये ही—"आदि मां" हैं। "म" में आकार उद्भावना के पश्चात् विराट आलोक एवं विराट अन्धकार पृथक् हो गया। तब दोनों के मध्य एक पथ का अनुभव हुआ।

तत्पश्चात् 'म' में जिस "आकार" का उदय हुआ था, उसकी उपलब्धि हुई। अर्थात् "मा" के आविर्भाव की सूचना मिली। इस उपलब्धि के साथ विश्वगुरु भृगु-रामदेव एवं उनके सप्तरश्मिमय महर्षि प्रभृति का आविर्भाव हुआ। इन सबके मिलित मण्डल का नाम है "ज्ञानराज्य"। चैतन्यराज्य में ज्ञानराज्य नामक कोई स्थान नहीं था। विशुद्धसत्ता के अभाव से चैतन्य बोधहीन था। अतएव बोधमय ज्ञानराज्य की प्रतिष्ठा न हो सकी। ईश्वर, परमेश्वर के द्वार पर सबकी यही अवस्था होती है। 'एक' बोध की अवस्था अद्वैतावस्था है, अतः बोधपद वाच्य नहीं। देवता यह नहीं जानते—कौन उनके सम्मुख आया? जो साधक देवता को प्राप्त होगा, उसे भी मान नहीं रहेगा "मैं किसके निकट आया हूँ"। देवता, परमेश्वर, ईश्वर प्रभृति चैतन्य हैं। चैतन्य, "द्वितीय" बोध विरहित है। वहाँ जो जायेगा, उसकी भी यही अवस्था होगी। यह "एकमेवाद्वितीयम्" अवस्था है।

ज्ञानराज्य की प्रतिष्ठानन्तर नराकृति का आविर्भाव हुआ। अब नराकृति ने अनुभव किया उस उद्‌देश्य का, महाकर्म का, जिसे सम्पन्न करने के लिये उसका

आविर्भाव हुआ है। भविष्यत् में करणीय कर्म का, उन्हें अन्तर में स्फुरण होने लगा। नराकृति ने उपलब्धि की है—सूर्य (आत्मा) के स्वरूप को उद्घाटित करना होगा। अबतक जगत् में प्रकृत आत्मस्वरूप का दर्शन घटित नहीं हुआ। उसका उद्घाटन करना होगा। आत्मा के साथ जड़ित मन को समष्टि भावापन्न करना होगा। मन व्यष्टि है। परमात्मा से व्यष्टि मन का वियोग है। समष्टिभाव द्वारा यह योग संभव है। इसके लिये मरदेह द्वारा कर्म आवश्यक है। ज्ञानराज्य में रहकर उद्दिष्ट कार्य संभव नहीं। उन्होंने अपने स्वरूप को ज्ञानराज्य के बोध से परिपूर्ण रखकर मर जगत में अभावमय देह का गठन किया। (अर्थात् मृत्यलोक में 'मर' आधार का अवलम्बन लिया) मर–आधार बिना अन्धकार का आवरण अपसारित नहीं होता। योगी, ऋषि, मुनि प्रभृति शुद्ध आत्माएँ ईश्वर सायुज्य प्राप्त कर, एक अवरुद्ध स्थिति में चली गयीं। उनका आर्तिभाव तभी सार्थक होगा, जब विशुद्धसत्ता उनके 'स्व' से अभिन्न होगी एवं वे विशुद्धसत्ता के 'स्व' से एकीकृत होगें। इसके लिये परस्पर एक दूसरे का भाव ग्रहण आवश्यक है। यह है—विशुद्धसत्ता के देहधारण का पूर्व इतिहास।

'म' की आदि से विशुद्धसत्ता का आविर्भाव हुआ है। विशुद्धसत्ता एवं चैतन्यसत्ता में मौलिक भेद है। चैतन्यसत्ता अचैतन्य या जड़ से पृथक् है। वह है अपने आप में पूर्ण, अद्वितीय और अन्यनिरपेक्ष। वह जीव को अपने प्रभाव से आकर्षित करती है। अपने निकट खींचती है। यह है कृपादर्शन पूर्वक जीवोद्धार। जीव, स्वरूपगत भाव से चैतन्य सत्ता का अंश है। यद्यपि वह प्रकृति शृङ्खलाबद्ध हो, कालराज्य में सुख-दुःख भोगता है तथापि उसकी आत्मा-काल और प्रकृति के आघात् से क्षत नहीं होता। वह क्षुण्ण प्रतियमान होने पर भी अक्षुण्ण है। जिस प्रकार चैतन्य में संस्कार का अभाव है उसी प्रकार उसमें ज्ञान अथवा विकारादि परिवर्तनों का अत्यन्ताभाव है। सांसारिक सुख-दुःखादि धर्म, असंग एवं निर्लिप्त आत्मा की परिवर्तनात्मक क्षति करने में असमर्थ हैं। वे आत्मा में प्रकाशित नहीं हो सकते। जब चैतन्यसत्ता-साक्षात् भाव से अथवा परम्पराक्रम से अपने अंशभूत जीव को निकट खींच लेती है, तब जीव शान्त, शिव एवं अद्वैत स्थिति प्राप्त करता है। विपर्यय है कि वह अपने चिरसाथी मन एवं देह को साथ नहीं ले जा सकता। आत्मा की यह अवस्था वास्तव में चैतन्यस्वरूप में स्थिति है। यही कैवल्य, मोक्ष, निर्वाण आदि संज्ञा से अभिहित है। साधक की योग्यता के तारतम्यानुसार, इसकी अवस्था में तारतम्य होता है। ऐश्वर्य प्राप्ति, नित्यलीला में प्रवेश, सर्वभेदविवर्जित स्वप्रकाश आत्मा में निष्कम्प स्थितिरूप निर्वाण या मोक्षादि से कुछ भी लाभ नहीं। क्योंकि इन सभी अवस्थाओं द्वारा जीवदया संभव नहीं। मन एवं देहसम्बन्ध विच्छेद द्वारा ही इन सब अवस्थान्तर की प्राप्ति संभव है। अतः यह प्रकृत अमरत्व नहीं। अचैतन्य सत्ता

का चैतन्य में रूपान्तरण विशुद्धसत्ता का कार्य है। विशुद्धसत्ता की सिद्धि में देह अथवा मनत्याग का कोई प्रश्न नहीं और न आवश्यकता ही है। चैतन्य-अचैतन्य का भेद स्तिमित करने पर लोक-परलोक की कोई पृथक् अवस्थिति नहीं होगी। और न पृथक् उपलब्धि ही होगी। अखण्ड महायोग द्वारा जिस पूर्णदशा की अभिव्यक्ति होगी, वह सबका सम्मिलन है, किसी का परिहार नहीं। मन एवं देह परित्याग द्वारा—प्राण का उत्क्रमण होता है। अतः चैतन्य का भेद अक्षुण्ण रह जाता है। जिनके मतानुसार इस उत्क्रमण के विना अपरोक्ष ज्ञान द्वारा चित्स्वरूप में स्थिति सम्भव है, उन्हें भी देह एवं मन के चैतन्य सम्पादन की धारणा (पूर्णत्व के अंगरूप में) नहीं है।

चैतन्य की आधारभूता शक्ति, चिन्मयी शक्ति है। इनके द्वारा स्वरूप ज्ञान होता है, उर्ध्वोत्थान नहीं होता। उर्ध्वोत्थान के अभाव में अन्धकार भेद असम्भव है। मनुष्य, जाने अथवा अनजाने में अन्धकार भेद करना चाहता है। वह चाहता है कालातिक्रमण, एवं चिरजीवन की प्राप्ति। अतएव जड़देह का जड़त्व विमोचन आवश्यक है। मनुष्य की अन्तरतम आकांक्षा है, अमरत्व लाभ। वास्तव में कोई भी मरना नहीं चाहता। मरकर अमर होना, किसी को भी ईप्सित नहीं है। यहाँ विडम्बना है जीव की संस्कार जनित धारणा। वह मान बैठा है—"यह शरीर नश्वर है, मृत्यु के अधीन है। तथा आत्मा अविनश्वर है।" अतएव प्रत्येक शिक्षित मनुष्य के अनुसार अमरत्व लाभ का अर्थ है—आत्मा का अमरत्व। वह देह का अमरत्व असंभाव्य मानता है। आत्मा स्वभावतः मृत्यु द्वारा आक्रान्त नहीं होती। अतः उसे पुनः मृत्युपाश से छुड़ाने का परिश्रम क्यों ? त्रिगुणमयी प्रकृति परिवर्तन-शीला एवं नित्यपरिणामिनी है। जड़देह मात्र प्रकृतिविकार है। वह परिणाम धर्म से आक्रान्त है। अतः किसी भी प्रकार का जड़देह क्यों न हो, वह प्रकृत रूप में अमर नहीं हो सकता। देवताओं की देह दीर्घकाल पर्यन्त स्थायी है। वह क्षिप्रपरिणामिनी नहीं। उसे साधारणतया अमर मानते हैं। लेकिन वास्तव में वह अमर नहीं है। प्रलयकाल में उसका अवसान हो जाता है। प्रलयशक्ति के आघात को जो देह जितना अधिक सहन करता है उसका अमरत्व उतना विशुद्ध है। आजतक जगत में महा-प्रलय घटित नहीं हुआ। वही सम्यक् अमरत्व है, जिसमें (महाप्रलय में भी) शरीर ध्वंस नहीं होता।

देह की अमरतासिद्धि, यथार्थ अमरता है। जबतक देह, प्राण, मन का युक्त-भाव सिद्ध नहीं, तब तक इनका पारस्परिक वियोग अनिवार्य है। जब तक मन चैतन्य नहीं होगा, तब तक अन्य किसी उपाय द्वारा युक्तभाव की सिद्धि असम्भव है। मात्र चैतन्यप्राप्ति से चैतन्य का अवसान ही समाप्त हो सकेगा। किन्तु चैतन्यप्राप्ति के पश्चात् मन को निजस्व बनाने से (चैतन्य एवं अचैतन्य के समन्वय द्वारा)

मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है। स्थूलदेह स्थितिकाल में ही स्थूल-सूक्ष्म दोनों का उद्यापन होगा। समस्त विश्व एक अखण्ड मण्डल रूप प्रकाशित होगा। चित्र में "म" को घेरकर जिन त्रिकोणाकृति का दर्शन हो रहा है, वे व्यष्टिमन की प्रतीकाकृति हैं। त्रिकोणाकृति आवर्त्त रूप हो 'म' के चारो ओर विद्यमान हैं। किन्तु यह प्रकृत घेरा नहीं। कारण प्रत्येक त्रिकोण के वीच में विच्छेद भाव है। मिलित नहीं। (इसी प्रकार मरजगत् में प्रत्येक व्यष्टि मन के मध्य अलगाव है, विच्छिन्न भाव है।) मन, विच्छिन्नतावश कालप्रभाव से मुक्त होने में समर्थ नहीं।

मन व्यष्टिभाव त्यागकर समष्टिभाव प्राप्त करेगा। समष्टिभावगत अवस्था में उसे चैतन्य की प्राप्ति होगी। उसका कालसम्वन्ध विच्छिन्न हो जायेगा। तभी उपरोक्त त्रिकोणों का घेरा अविच्छिन्न होगा। (त्रिकोणाकृतियों के मध्य खाली स्थान नहीं रहेगा, अर्थात् मरजगत् में प्रत्येक व्यष्टिमन के बीच जो अलगाव है, वह समाप्त होगा।) मन आयत्त नहीं, इसी कारण "माँ" के चतुर्दिक काल अवस्थित है। जब निजस्व मन की प्राप्ति होगी, जब माँ, प्रकृति, एवं प्रणव, तीनों मिलित हो अखण्ड विज्ञान रूप में परिणत होंगे, तभी काल अस्तमित होगा। यही है अखण्ड महायोग या सूर्य विज्ञान। चैतन्य के साथ मन और काया (देह) की मिलितावस्था में मन और काया-चैतन्य होंगे। चैतन्य, मन एवं कायस्वरूप होगा अथवा दूसरे शब्द में मन ही चैतन्य एवं कायस्वरूप में परिणत होगा। इनका विच्छेद चिरकाल के लिये अस्तमित होगा। मृत्यु नामक अवस्था की स्थिति समाप्त होगी।

काल सजीव है। एकमात्र मरदेह उसे निर्जीव कर सकती है। चिन्मय दिव्यदेह अथवा अमर सत्वगण द्वारा कालविनाश असम्भव है। अतः चिन्मयदेह कर्म के लिये नितान्त अनुपयोगी है।

★

विशुद्ध सत्ता का अवतरण

(मातृस्वरूप आसन प्रतिष्ठा)

ब्रह्म से अतीत भूमि में संचित विशुद्ध सत्ता ही षोडश कलामय पूर्ण सत्ता है। उनकी पंद्रह कला एवं सोलहवीं कला का त्रिपादांश ज्ञानराज्य में है। एक कला का पादांश मात्र (१/४) कार्य करने के लिये मरजगत में अवतीर्ण है। ज्ञानराज्य में अवशिष्ट पंद्रह कला विश्वगुरु मृगुराम के रूप में स्थित है। वाकी त्रिपादांश (३/४) कला, भृगुशक्ति के आधारभूत अचलानंद या महातपा रूप से अवस्थित हैं। मात्र एक कला के पादांश (१/४) का प्रकाश (इस मरजगत में) विशुद्धानन्द रूप से हुआ। इन सब को मिलाकर विशुद्धसत्ता (षोडशकलायुक्त) है। पुकार (आर्त्त पुकार) आदि मां रूप है, अचलानन्द हैं अनादि स्वरूप। अचल की क्षुब्ध अवस्था "आदि मां", "मां की पुकार", या भावशक्ति है। आदि शक्ति से जिनका स्फुरण हुआ, वे हैं "कर्मशक्ति या श्यामाशक्ति। जिनके कारण यह स्फुरण हुआ, वे ज्ञानशक्ति अथवा उमाशक्ति पदवाच्य हैं। उमा का स्वरूप है "ॐ मां" अतएव अचल के तीन कोण हैं आदि मां (आदि शक्ति), श्यामा मां (कर्मशक्ति), एवं उमा मां (ज्ञानशक्ति) वहीं से "ॐ मां" शब्द निर्गत हुआ। पूर्ववर्णित एकपाद विशुद्धसत्ता, इस महाशब्द को चतुर्दशभुवन का अतिक्रमणकर, इस मर्त्यलोक में लाई। ज्ञानराज्य में 'ॐ मां" ध्वनि निरन्तर उत्थित हो रही है। किन्तु धारक के अभाववश, (धृत न होकर) वापस लौट जाती है।

एक पादांश विशुद्धसत्ता कर्म करने के लिये मरजगत में अवतीर्ण हुई। कार्य करते करते सत्ता की मात्रा वृद्धिगत हुई। षोडशकला अर्थात् पूर्णसत्ता का अवतरण होनेपर विज्ञान कार्य प्रारंभ होगा। पूर्णसत्ता बिना विज्ञान कार्य संभव नहीं। विशुद्ध सत्ता अपूर्ण जगत् में अवतरित हुई। यह मरजगत् अपूर्ण जगत् है। देव जगत् पूर्ण जगत् है। देवलोक में बोध का अभाव है अतः सर्वदा एक अवस्था रहती है। मरजगत् में बोध है। यहां अवस्थान्तरण है एवं पूर्णता का अभाव है। साधारण मनुष्य इस मरयोनि में आत्म-विस्मृत रहता है। विशुद्धसत्ता ने सम्पूर्ण बोधग्रहण पूर्वक मरदेह धारण किया था। जब मरजगत् में एक कला विशुद्ध सत्ता पूर्ण होगी, तब उर्ध्वजगत् में देवगणों के अन्दर आकांक्षा का उदय होगा। अभी एक कला पूर्ण नहीं है। उसके साढ़ेतीनपाद पूर्ण हो गये हैं। अर्धपाद अभी भी अपूर्ण है। विशुद्धानन्द ने प्रकट रूप से मनुष्य देह धारण किया, जगत में सब के समक्ष प्रकाश्य भाव से विज्ञान कार्य का प्रदर्शन कर, पूर्ण भाव से सूर्य विज्ञान की प्रतिष्ठा हेतु वचन दान

दिया। उस समय एक कला की पूर्त्ति में ढ़ाईपाद अवशिष्ठ थे। दीक्षा कार्य द्वारा शिष्यों में स्वशक्ति संचार (स्व-कायादान) कर्म पूर्व एक कला के मात्र डेढ़पाद पूर्ण हुये थे। इस डेढ़पाद में एकपाद है उनका जन्म, एवं अर्धपाद है उनका संचित कर्म। अतः पूर्णता हेतु शिष्य मण्डली से "ढ़ाईपाद" प्राप्त होना आवश्यक था। तभी एक कला की पूर्णता सिद्ध हो सकती थी। लेकिन उन्हे शिष्यमण्डली से इस परिमांण में कर्म प्राप्ति न हो सकी। अतएव उन्हे स्थूल देह का संकोच (त्याग) करना पड़ा। वास्तव में उन्होंने कर्म संकोच नहीं किया।

विशुद्धानन्द कर्म संकोच के लिये प्रस्तुत नहीं थे। जिस महाउद्देश्य की साधना हेतु वे जगत में अवतीर्ण हुये, एकमात्र कर्मसाधना ही उसका उपाय है। अतः उन्होने कर्म संकोच नहीं किया। उन्होने स्थूलदेह अवस्थान काल में ही, स्थूल कर्म की आधारभूता एक अभिनव वस्तु संसार को समर्पित की। इसके पूर्व उस वस्तु का संसार में कोई अस्तित्व नही था। यहाँ तक कि इससे पहले किसी ने उसका नाम भी नहीं सुना होगा। इस अभिनव वस्तु का नाम है "नवमुण्डीं आसन। इस आसन की स्थापना उनके काशी स्थित आश्रम के निभृत प्रदेश में हुई। स्थापनातिथि है फाल्गुन द्वितीया, 1341 वंगाब्द। पंचमुण्डी आसन तो सर्वविदित है। किन्तु नवमुण्डी का नाम कभी किसी ने नहीं सुना होगा। उन्होंने एक दिन प्रश्नोत्तरकाल में बताया "यह एक गम्भीर रहस्यमय वस्तु है। इसकी स्थापना में मुझे दीर्घकाल तक परिश्रम करना पड़ा। प्रायः चालीस वर्ष पर्यन्त मैंने इसके लिये चेष्ठा की। नवमुण्डी आसन रचना में प्रयुक्त, ९ वस्तुओं में से ८ का संग्रह मेरे द्वारा हो चुका था। एक पदार्थ दुर्लभ था। दीर्घकालीन अन्वेषण द्वारा भी उसकी प्राप्ति नहीं हो सकी। सम्प्रति, वह प्राप्त हो गई, तत्पश्चात् मैंने आसन प्रतिष्ठा की व्यवस्था की है।" वह नवम वस्तु क्या है इस रहस्य की विवेचना नहीं हो सकी। उन्होंने इसका कोई प्रकाश नहीं किया, फिर भी गुरुदेव के कथनानुसार नवमुण्डी आसन प्रतिष्ठा उनके जीवन की अक्षय कीर्त्ति है। एक दिन इस आसन की जगत् व्यापी महिमा उद्घाटित होगी। समग्र सृष्टि में पृथ्वी अग्रगण्य है, एवं पृथ्वी में काशी का विशेष स्थान है। काशीधाम आसन स्थापना हेतु सर्वापेक्षा उपयुक्त च्षेत्र था। समग्र जगत में पृथ्वी कर्मभूमि है। पृथ्वी में यह काशोच्षेत्र ज्ञानभूमि है। ज्ञानभूमि काशीच्षेत्र अथवा काशी से भी अतीत रूप यह आसन विज्ञानभूमि है। सूर्यविज्ञान नामक जिस महाविज्ञान की प्रतिष्ठा के लिये, तथा जगत् को महाविज्ञान की आभा से विज्ञानमय बनाने के लिये, उनका अवतार हुआ था, इस आसन की स्थापना द्वारा उस महाकर्म की भित्ति निर्मित हुई। नवमुण्डी आसन की प्रतिष्ठा, विशुद्धानन्द के जीवन, भारतवर्ष के आध्यात्मिक इतिहास, एवं समग्र जगत् की चिरस्मरणीय घटना है।

आसन स्थापना के कुछ दिन पश्चात् विशुद्धानन्द स्थूलदेह संकोच द्वारा लोकलोचन से अगोचर हो गये। वास्तव में उनका स्थूल देह वियोग अभी भी नहीं हुआ। एवं हो भी नहीं सकता। वे आपाततः जनसाधारण के दृष्टि क्षेत्र से छिपे हुये हैं। सुसमय आने पर वे पुनः आविर्भूत होंगे। वे केवल कुछ कर्म की प्रतीक्षा कर रहे हैं। पहले कह चुका हूँ—उन्होंने जिस परिमाण में शिष्यों से कर्म कर अपेक्षा की थी, वह प्राप्त नहीं हो सका। अतः उन्हे देह संकोच करना पड़ा। अपेक्षित कर्म प्राप्त होते ही उनका पुनः आविर्भाव अवश्यंभावी है। विज्ञान व्यक्तिगत देह द्वारा संभव नहीं। समष्टि देह की प्राप्ति से विज्ञान का अवतरण संभव होगा। वे जैसे पहले थे, वैसे ही स्थित हैं। उनमें न कोई परिवर्त्तन हुआ है न होगा। जब तक कर्म पूर्ण नहीं होगा, वे आत्मप्रकाश कैसे करेंगे ? कर्म का अभाव आत्मप्रकाश का आच्छादन या पर्दा बन गया है। वे स्वयं कर्म के उस पार अवस्थित हैं। कर्म की समाप्ति के साथ-साथ, यह आच्छादनरूपी पर्दा टूट जायेगा। तब वे विद्यमान रूप से अपना आत्मप्रकाश करेंगे।

उनमें एवं साधारण देहधारी में अनेक पार्थक्य है। जिस कर्म के लिये उन्होंने नरदेह धारण किया है, वह साधारण कर्म नहीं। योगी, ऋषि, सिद्ध, तापस प्रभृति से उनका कर्म सर्वांश में विलक्षण है। वे समस्त जगत् के पूर्ण अधिष्ठाता रूप हैं, यद्यपि अभी तक जगत् ने उनकी इस रूप में उपलब्धि नहीं की है। प्रत्येक लोक में एक-एक अध्यक्ष है, वह मात्र वहीं का अधिष्ठाता है। समस्त लोक-लोकान्तर के समष्टि रूप विराट् को आयत्त करके, सबको विराट का अंश प्रदान करना विशुद्ध सत्ता के आविर्भाव का लक्ष्य है। सूर्य विज्ञान (चिरस्थायी विज्ञान) की जगत में प्रतिष्ठा द्वारा उनका कर्म सफल होगा। उन्होंने नरदेह का वरण किया था, इस अखण्ड महायोग के प्रचार एवं उसे कार्य में परिणत करने के लिये। उनका जन्म, सामान्य जीवों के जन्म जैसा नहीं। कारण वे एक ऐसे कर्म सम्पादन हेतु अवतरित हुये, जो सृष्टिकाल से आज पर्यन्त कभी प्रकाशित या कल्पित नहीं हो सका। योगी, ऋषि प्रभृति जगत में अवतीर्ण होते रहते हैं। वे स्वकर्म के प्रभाववश, अपने-अपने भाव का अनुसरण कर, किसी न किसी ऐश्वर्यमय लोक-लोकान्तर की प्राप्ति करते हैं। वे सब लोक-लोकान्तर पहले से ही विश्व-प्रकृति गर्भ में विद्यमान हैं। इन लोगों ने कोई नवीन रचना नहीं की। जो भी रचना 'नवीन' प्रतीयमान हो रही है, वह वास्तव में नव रचना नहीं है। लेकिन विशुद्धानन्द की रचना सर्वथा नूतन है। वह अप्राकृत, अतिसृष्टि है। जब वे देही अवस्था में इस लोक में दृष्टिगोचर थे, तब कथा प्रसंग में कहा करते थे "ज्ञानगंज विश्वसृष्टि की परावस्था है और जिस कर्म को करने की इच्छा कर रहा हूँ, वह आज से पहले कभी जगत् में प्रकाशित ही नहीं हुआ है। देवता की महिमा

साक्षात् भाव में देवलोक में ही आवद्ध है। किन्तु इस महाकर्म की पूर्णता द्वारा मरलोक की महिमा चिरस्थायी होगी। यही नहीं, मरदेह के गौरव और महिमा को परमदेवता द्वारा अंगीकृत करके, उन्हें भी पूर्णत्व लाभ के पथ पर अग्रसर होना पड़ेगा। विश्व में प्रकृत् कर्म का प्रारम्भ अभी भी नहीं हुआ। मरदेह के अतिरिक्त (कर्मभूमि के जीव के अतिरिक्त) देवताओं को भी कर्म का अधिकार नहीं। दुःख है मनुष्य अधिकारी होने पर भी कर्म करने में समर्थ नहीं। कारण—किसी ने प्रकृत मनुष्यत्व की प्राप्ति नहीं की। मनुष्यत्व प्राप्ति के पश्चात् विज्ञान का उदय होगा। एवं सन्तानगण निश्चिंत मन से कर्मरत होंगे। तब योगक्षेम की चिन्ता नहीं रहेगी। उस समय समस्त जागतिक अभाव की पूर्ति हेतु विज्ञान का द्वार समस्त अधिकारी सन्तानों के लिये खुल जायेगा। समस्त जरा-मृत्यु प्रभृति दैहिक विकार, काम-क्रोधादि मानसिक विकार अपगत होंगे। उस महाकर्म में प्रवृत्त होने के लिये, किसी को कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा। मनुष्य के अतिरिक्त किसी के लिये इस महाकर्मसाध्य वस्तु की प्राप्ति सम्भव नहीं। मनुष्य के जीवन से यावतीय वाधा अपसारित कर, मनुष्य को प्रकृत मनुष्यरूप में परिणत करना, एवं इस महापथ पर चालित करना आवश्यक है।"

विशुद्धानन्द का यह महास्वप्न अब कार्य में परिणत होने जा रहा है। विशुद्ध सत्ता की महिमा जगत में किसी को ज्ञात नहीं। विशुद्धसत्ता अंशरूप में विशुद्धानन्द की संज्ञा से अभिहित हो मरजगत में आविर्भूत हुई। उन्होंने नरदेह धारण कर मनुष्य की मर्यादावृद्धि की। योगी, ऋषि एवं मुनिगण, ईश्वरिक चिन्ता में मग्न रहकर जीवन अतिवाहित करते थे। वे संसारक्लिष्ट जीव को ईश्वर संन्निधान में जाने का पथ निर्देश करते, अथवा अपने बल से (अपनी कृपाशक्ति से) ईश्वर के निकट ले जाते थे। इसी कारण उन्हें महनीय और प्रातःस्मरणीय माना गया। उनके मतानुसार भगवान का गुणगान, उनकी लीला और कीर्ति का प्रचार, एवं जगत् से जीवों के मन को नाना उपाय द्वारा प्रत्याहृत कर भगवद्-उन्मुख करना जीव सेवा है। वे जानते थे, देह, संसार अनित्य है, मनुष्य का जीवन एवं जागतिक भोगसम्भार क्षण-भंगुर है। ये सब जड़ पदार्थ अथवा जड़मिश्र पदार्थ, परम चैतन्यरूप भगवत् वस्तु की प्राप्ति मे अन्तराय स्वरूप हैं। जगत की नश्वरता एवं चैतन्य की नित्यता की शिक्षा देकर जीव के मन में चैतन्य के प्रति आकर्षण बढ़ाना उनका ध्येय था। मनुष्य का मन विचित्र है। वासना, धारणाशक्ति एवं अधिकार भी विचित्र है। अतः महाजनगण अधिकारी भेद अवलम्बन पूर्वक त्रिताप पीड़ित जीवों को कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग एवं विभिन्न प्रकार के योगमार्ग का उपदेश दे गये हैं। महाजनगण भगवान के उपासक हैं एवं जीवों को उसी उपासना की शिक्षा देते हैं।

विशुद्धानन्द थे जीवों के उपासक। जो विशुद्ध सत्तारूप में चैतन्य सत्ता से भी अतीत हैं, जो आलोक एवं अन्धकार दोनों के परपार अवस्थित होकर आलोक एवं अन्धकार की समष्टि द्वारा जीव को पूर्णत्व प्राप्ति का पथ-प्रदर्शन कराने के लिये मर्त्यलोक में अवतीर्ण हैं, वे जीवों का अभाव दूर करने हेतु कृतसंकल्प हैं। उनका कथन था—जगत जिनकी पूजा करता है, सम्मानित स्थान देता है, चाहे वे कितनी भी श्रेष्ठ पदवी पर अधिरूढ़ क्यों न हों, उन देवताओं से भी उत्कृष्ट वस्तु नरदेह सम्पन्न मनुष्य में है। इस वस्तु के जागरण द्वारा, एक ऐसी स्थिति का उदय होगा जिसकी तुलना में तथाकथित ब्रह्मपद भी तुच्छ है। वे जानते थे, मनुष्य देह में जब तक मनुष्यत्व की प्राप्ति नहीं होगी, तब तक पूर्ण ब्रह्म अवस्था की प्राप्ति असम्भव है। देवता अथवा ईश्वर की समकक्षता पाना मनुष्य का उद्देश्य नहीं है। मनुष्यत्व के विना भी इन अवस्थाओं की प्राप्ति होती है। इन अवस्थाओं की प्राप्ति में जागरण का कोई प्रयोजन नहीं, एवं जो जाग्रत हो जाता है वह इन अवस्थाओं को पाना ही नहीं चाहता। मनुष्यत्व के अभाव में, ईश्वरलाभ के पथ पर अग्रसर साधक, ईश्वर प्राप्ति नहीं करता, वरन् ईश्वर की निजसत्ता में विलीन हो जाता है। ईश्वर साधना से ईश्वरस्थान विद्ध नहीं होता, मात्र ऐश्वर्य प्राप्ति होती है। इसीलिये वे मनुष्य को मनुष्य बनने के लिये कहते थे। मनुष्यत्व से ही ईश्वरत्व, ब्रह्मत्व प्रभृति सारी दशायें सुलभ होती हैं। उसे इनका अभाव नहीं होता। एकमात्र मनुष्य शरीर में विज्ञान प्राप्ति होती है। चैतन्य एवं अचैतन्य में घनिष्ट सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध की अभिज्ञता द्वारा अवचैतन्य की पूर्ण जाग्रति से एक अखण्ड मन की प्राप्ति होगी। यह अति मूल्यवान निधि है। देवगण को यह अमूल्य निधि अविज्ञेय है। यहाँ तक कि समष्टि देवता भी इसका मर्म नहीं जानते।

इस अमूल्य वस्तु की आज पर्यन्त उपलब्धि नहीं हो सकी थी। ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ, गोलोक आदि भी इससे भिन्न नहीं। यदि भिन्न होते तो हमलोगों को इस विभीषिकामय कालराज्य के अवसान की कामना क्यों करनी पड़ती? इस महारत्न का सन्धान मिलने पर ब्रह्मपद, विष्णुपद, अथवा शिवपद तुच्छ लगेगा। विशुद्धानन्द ने नरदेह में अवस्थित हो चिरकाल तक साधना की। उनका लक्ष्य था—किस प्रकार नरदेह मृत्युवर्जित होकर चिदानन्दमय नित्यदेह में परिणत हो सके। उन्होंने मनुष्यत्व की साधना की, अतः उनके लिये मनुष्यत्व साध्य था। उनके अन्तर की कामना थी—मनुष्य विज्ञान पथ पर अग्रसर होकर अन्त में विज्ञान स्वरूप में अवस्थित हो। विज्ञान का पथ ही एकमात्र पथ है—जिस पर चलकर क्षण एवं महाप्राण की प्राप्ति होगी। विज्ञान एवं उसका उपाय स्वरूपज्ञान, मनुष्य मात्र की प्राप्य सम्पदा है। चैतन्य के अन्तर्मुक्त चंचल मन का निरोध कर अथवा विचार, उपासना द्वारा जिस

ज्ञान की प्राप्ति होती है वह प्रकृष्ट ज्ञान नहीं। व्यक्तिगत रूपेण मन की एकाग्रता प्राप्ति से मन का खण्डभाव नष्ट नहीं होता। पहले आलोक के मन का कार्य सम्पूर्ण करना होगा, तत्पश्चात् अन्धकार के मन का कार्य समाधित होने से ही अखण्ड मन की प्राप्ति होगी। मन अखण्ड होते ही अखण्ड प्राण की अविलम्ब प्राप्ति होगी।

विशुद्धानन्द विशुद्धसत्ता रूप में, प्रतिजीवन के मध्य रेणु-रेणु में विराज रहे हैं। जिस क्षण पर्यन्त समग्र जगत में एवं जगत के अतीत स्थित सत्ता में, सबके साथ व्याप्तभाव में उनका प्रकाश नहीं होगा, तब तक उनका प्रकृत जन्म नहीं होगा। जबतक विभिन्न स्तरों में स्थित सकल सत्वआधार मररक्त से पूर्ण होकर मनुष्यत्व लाभ नहीं करेंगे तबतक विशुद्धानन्द का जन्म प्रमाणित नहीं होगा। सर्वत्र सबकी आधाररूपा, सारसत्ता है यह विशुद्धसत्ता। यह उनके द्वारा प्रवर्तित कर्म से विशेषरूपेण प्रमाणित हो चुका है। वास्तविक वस्तु क्या है? यह कर्म बिना जानना असम्भव है।

विशुद्धसत्ता चतुर्दश भुवनों से उर्ध्व, ब्रह्मलोक से भी उर्ध्व विराजित है। पूर्णसत्ता से, एक कणिका रूप में, विशाल अग्निराशि से निर्गत्, एक चिनगारी रूप में निःसृत हो, मर जगत् में अवतीर्ण हुई है। चैतन्य अथवा प्राण से सृष्ट जन्म क्षण-स्थायी है। वे सब पराशक्ति के क्षरण हैं। इस प्रकार के जन्म में प्रकृति-पुरुष का दैहिक संयोग आवश्यक है। विशुद्धसत्ता चैतन्य से नहीं, अपितु अंधकारस्थित विराट मन द्वारा उद्भूत है। पूर्ववर्णित कणिकामात्रसत्ता अंधकारस्थ मन से जड़ित हो, मर-भूमि में आविर्भूत हुई। उस समय तक सृष्टि में इस सत्ता अथवा इस मन का कार्य पूर्ण नहीं हुआ था। इस मन और सत्ता का युक्तभाव में अवतरण ही विशुद्धानन्द का जन्म है। विशुद्धसत्ता की रश्मि, किस पथ का अवलम्ब लेकर मरजगत् में प्रवेश कर सकी, यह अभी तक अज्ञात है। अनेक की धारणा है, लोक-लोकान्तर में अथवा भुवन-समूह के स्तर विन्यास से भी उर्ध्व में, अधोभाव से वह पथ विद्यमान है। वे मानते हैं कि पृथ्वी या भूलोक सर्वापेक्षा निम्नहै। भुवर्लोक के उपर स्वर्गलोक की अवस्थिति है। तत्पश्चात् क्रमशः महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्य एवं ब्रह्मलोक अवस्थित है। लेकिन यह धारणा अमूलक है। कारण स्तर-समूह के विन्यास में अधः-उर्ध्व का स्थान नहीं। भूलोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त सभीलोक एक ही स्तर में अवस्थित हैं। कारण ब्रह्म से जब स्फुरण होता है, तब सम्मुख होता है। प्रदीप से जब प्रभा निःसृत होती है, तब चारो ओर समान भाव से प्रकाश होता है। दो लोकों के मध्य अथवा प्रतिलोक के चतुर्दिक शून्य विराजित है। सभी लोक एक साथ ही, सारी दिशाओं में प्रकट हुये थे। वहाँ आवर्त्त या त्रिकोण कुछ भी नहीं था। कारण तब बोध अस्तमित था। ब्रह्म

से एक लहर के समान समस्तलोक सृष्ट हुये। प्रथम था ब्रह्मलोक अन्तिम था मर्त्यलोक। मरजगत् को केन्द्र वनाकर समस्त जगत का आविर्भाव हुआ। तब ब्रह्म था उर्ध्व, मर था अधः। एवं मध्यस्थान में सारे लोक-लोकान्तरों का विन्यास था। साक्षात् ब्रह्म से जो स्फुरण था—वह है ब्रह्मलोक। तत्पश्चात् विभिन्न अमर लोक का आसपास अनुभव हुआ। सर्वान्त में मरलोक है। यही विन्दु या पृथ्वी है। ब्रह्मलोक से लेकर अन्य कोई लोक विन्दु नहीं। अतएव किसी भी उर्ध्वलोक में मृत्तिका का आस्तित्व नहीं है। विन्दु को केन्द्र वनाकर समस्तलोक विन्यस्त हैं। एक-एक स्तर, एक-एक आकार विशेष हैं। कोई पद्म के समान कोई शंख के समान। प्रत्येक स्तर शून्य में विराजित हैं। सभी चैतन्यमय हैं, सभी प्राणमय हैं, अपितु बोध कहीं भी नहीं है। बोध रहने पर ये सव इस प्रकार निरालम्व शून्य अवस्था में नहीं रहते। भूतल पर पतित होते। उर्ध्वलोकों में वार्त्तालाप नहीं होता। वार्त्तालाप होने पर कोई वहाँ स्थिर नहीं रह सकता। नीचे गिर जाता है। उर्ध्वलोकों में कहीं भी पर्यायक्रम से श्वास-प्रश्वास की क्रिया नहीं चलती।

देवगण श्वास खींच सकते हैं, लेकिन प्रश्वास नहीं छोड़ते। प्रश्वास छोड़ते ही वे देवभाव से च्युत हो जाते हैं। जहाँ मृत्तिका नहीं होती, वहाँ श्वास तो खींचा जा सकता है, परन्तु प्रश्वास छोड़ सकना असंभव है।

जब विशुद्धसत्ता अंशरूप में ब्रह्मलोक से भी उर्ध्वस्थान से नीचे (मरलोक में) उतरी, उस समय पूर्वोक्त सभी लोकों का भेद करके मध्य से नहीं उतर सकती थी। अतः इन सभी भुवनों के मध्य से न आकर बाहर से आई। अर्थात् शून्य का अवलम्बन लेकर उसका अवतरण हुआ। यह शून्य क्षणरूपी है। वस्तुतः सृष्टि के पूर्व में क्षण विद्यमान था। किन्तु स्वरूप का अभाव था। अतः उसे 'आदि' संज्ञा नहीं दी जा सकती। एकमात्र विशुद्धसत्ता ने ही क्षण को पहचाना। विशुद्धसत्ता क्षण को पहचान कर उसे पाने के लिये व्यग्र हो उठी।

अतएव विशुद्धसत्ता का अंश ब्रह्मलोकादि भुवनों के परिवेष्ठन स्वरूप चतुर्दिक व्यापी महाशून्य का अवलम्बन लेकर, मरयोनि में प्रविष्ट हो मरदेह में आविर्भूत हुआ। क्षणयुक्त कर्म का आविष्कार एवं उसका जगत् में प्रचार उनके आविर्भाव का उद्देश्य था। मरयोनि में आने पर भी उनका मरदेह ग्रहणरूप जन्म, प्रकृतरूपेण योनि जन्म नहीं था। पराशक्ति के क्षरण—(चैतन्य) से सम्भूत अवतरण योनि जन्म है। इसमें प्रकृति पुरुष का संयोग आवश्यक है।

किन्तु जो अवतरण—शून्य के अवलम्व द्वारा होता है उसमें संयोग की आवश्यकता नहीं। चैतन्य के मध्य से, अर्थात् पूर्ण के अवलम्वन से उद्भूत अवतरण सीधे मातृगर्भ में भेजता है। यही योनि जन्म है। चैतन्यसत्ता एवं विशुद्धसत्ता में कुछ और

पार्थक्य प्रतीत होता है। चैतन्य, मात्र चैतन्य को आकर्षित कर सकता है। अर्थात् अपने स्वजातीय अंश को खीचकर स्वसान्निध्य प्रदान करता है। विशुद्धसत्ता का अधिकार इसकी अपेक्षा अधिक है। यह चैतन्य के साथ-साथ अचैतन्य का आकर्षण करने में समर्थ है। चैतन्य कभी भी अवतरित नहीं होता, अथच प्रतिमुहूर्त उसका क्षरण-व्यापार हो रहा है। विशुद्धसत्ता समानभाव से चैतन्य एवं अचैतन्य में अवतरण करती है और अवतरण कराती है। उसका प्रकृत् स्वरूप है, मनुष्यत्व या एकलक्ष्य विज्ञान। यही मनुष्य का वैशिष्ट है। इसी विज्ञान की स्थापना हेतु उनका अवतरण हुआ था।

विशुद्धसत्ता के मरजगत में अवतरण का दूसरा प्रयोजन है—निज की शिष्य-रूप में सृष्टि। वे श्रष्टा बनकर आये, किन्तु सृष्ट नहीं हो सके। अतः शिष्य रूप से द्वितीय होना चाहा। योगी, ऋषि प्रभृति महाजनगणों के परिजन इस जगत् में हैं। लेकिन विशुद्धसत्ता का कोई परिजन इस जगत् में नहीं है। वह कार्य इस समय आत्मा द्वारा सिद्ध होगा। वे इस कार्य को स्वयं नहीं कर सके। पर अन्य से करा सकते हैं। उनकी सृष्टि के साथ-साथ चैतन्य की (योनिजन्म) सृष्टि का रोध तब तक सम्भव नहीं जबतक उनका 'स्व'कर्म पूर्ण न हो। जब तक सृष्टगण एकावस्था से 'आर्तना' नहीं करेंगे, तब तक आर्तिभाव पूर्ण नहीं होगा। अतः कर्मपूर्ण न होने तक वे निष्क्रिय हैं। वे अपनी इस देह द्वारा इस कार्य को पूर्ण नहीं कर सके। कर्म पूर्ण नहीं हुआ, कारण अधोलोक में वह "आर्त्तना" नहीं उतरी है। उनका चैतन्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे सब की सार वस्तु हैं, परन्तु मरदेह में 'आर्त्तना भाव' का स्फुरण आवश्यक है। उन्होंने मरदेह में प्रकृत कर्मबीज का वपन किया है। उन्होंने अक्षत चैतन्यमयी के साथ योगयुक्त होने की प्रक्रिया का दान भी किया है। यह प्रचलित दीक्षा प्रणाली से भिन्न है। किंचित मात्रा में कर्म रोपण कर स्वरूप-ज्ञान निमित्त एवं किंचित परिमाण में काल की समाप्ति हेतु उन्होंने दीक्षादान का अभिनय किया। इसके अभाव में कोई भी चैतन्यमयी के स्वरूप की उपलब्धि नहीं कर सकता।

यही अक्षत् चैतन्यमयी मां "कुमारी" है। कुमारी शब्द का अर्थ है, कुण्डल अर्थात् नाभिछिद्र। अन्तरंगतम भावानुसार कुमारी ही तत्त्व हैं। बहिरंग भावानुसार कुमारी का अर्थ है—ब्राह्मण वंश संजात अक्षत् कन्या। लौकिक दृष्टिकोणानुसार इनकी सेवा पूर्ण मनोयोग से अर्जित योग्यता द्वारा यथाविधि करनी चाहिये। ये जीवन्त शक्ति हैं। सेवा द्वारा इन्हे संतुष्ट कर, सन्तानगण को इनका प्रसाद ग्रहण करना चाहिये। इस प्रसाद ग्रहण से अन्तरंगतत्व (अर्थात् नाभिकुण्डल) का भेद होता

है। कुमारीतत्व से युक्त हुये बिना ब्रह्मातीत भूमिका का अतिक्रमण नहीं होगा। कुमारी मातृमूर्त्ति हैं। उनकी निष्ठायुक्त सेवा बिना, दीक्षातत्व अपूर्ण ही रहेगा। जगत् में दीक्षा का जो स्वरूप दृष्टिगत होता है वह सब प्रकृत दीक्षा का अभिनय मात्र है। कुमारी सेवा यथार्थ दीक्षा है।

उन्होने दीक्षादान के अनंन्तर पूर्णभाव से दीक्षातत्व समझाने के लिये महानिशाकाल में महाशक्ति के षोडश अंश (सोलहवें अंशरूप) से इस कर्म का समापन किया था। फलस्वरूप इस समय भी इस कर्म का प्रकाश संभव है। एकमात्र सेवा शक्ति प्रकाश स्वरूपा है। उस प्रकाश स्वरूपा शक्ति का धारक है—सेवक। वही मूल कर्म स्वरूप है। जबतक जीव में आलस्य और संशय रहेगा, तबतक महानिशाकर्म, एवं सेवा ग्रहण—दुःसाध्य है, दीर्घकालीन अभिज्ञता से यह समझा जा सकता है। कुमारीतत्व को पूर्ण करने के लिये, विशुद्ध सत्ता ने कुमारी आधार ग्रहण किया। एवं उनके द्वारा इस जीवमय जगत में खण्डमातृका सेवा आयोजित कर सेवा महिमा की अभिज्ञता कराई गई। चैतन्यमयी की अंशरूपा कुमारीमाता की सेवा सुचारु रूप से सम्पन्न हुई। दीक्षोपरान्त दीक्षित शिष्य प्रसाद ग्रहण करते थे। वर्त्तमान समय में अंधकार के असाध्य कर्म (अंधकार स्थित मन को निजस्व करना) के संम्पादन में, मरदेह के रस को प्राधान्य प्रदान हेतु, एवं इस प्राधान्य की वृद्धि के लिये, सेवा शक्ति का कार्य पूर्ण उद्यम के साथ चल रहा है। जब समस्त भूमण्डल में अमर रूप से मररक्त व्याप्त होगा- तब सभी को एक निमेष के लिये सेवा में प्रवृत्त होना होगा। सेवा बिना विज्ञान के अवतरण की कोई संभावना नही। सेवा से विज्ञान का पथ आविष्कृत होगा। विज्ञान यंत्र स्वरूप है। प्रसाद ग्रहण की शक्ति के कारण सेवक सिद्ध कहा जाता है। यही प्रकृत् मनुष्यत्व लाभ है। विशुद्धसत्ता मातृसेवा की प्रतिष्ठा हेतु जगत में आविर्भूत हुई। साथ ही सेवायुक्त करने के लिये, जगत् से तिरोहित हो गई। परन्तु तिरोधान के पश्चात् कर्म अविश्रान्त रूप से चल रहा है। समग्र मानव, मानव आत्मा, पितृगण, देवतागण, ईश्वर, परमेश्वर, शक्ति, पराशक्ति, पुरुषोत्तम, सभी मिलित होकर सूर्य विज्ञान के अवतरण के पश्चात् प्रसाद ग्रहण करेंगे। मरसत्ता को सर्वपूर्व प्रसाद ग्रहण का अधिकार है। जो संम्पूर्ण शक्तिमान सेवक हैं, वे अंधकार के कर्म से पूर्वसंयुक्त होने के कारण, चरम अवस्था के पश्चात् भी बोध के साथ युक्त रहेंगे। उनका बोध कभी नष्ट नहीं होगा। सेवा, प्रणाम, एवं प्रसाद के द्वारा प्रकृति का अतिक्रमण होगा। इन्ही से काल का समाधान भी होता है। पूर्ण अक्षत् चैतन्यमयी मां के अतिरिक्त, इसका समाधान अन्य से संभव नहीं। सेवक एवं सेव्य के मध्य व्यवधान आवश्यक है। अन्यथा स्वयं को खोजपाना असंभव होगा। (बोध समाप्त हो जाने से लीनावस्था में ऐसा होता है, अतः सेवक-सेव्य भाव बोध की रक्षा

हेतु आवश्यक है)। प्राचीनकाल से जितनी योग पद्धति प्रचलित हैं, सभी साधन—पद्धति हैं। प्रकृत योग-पद्धति नहीं। सेवा विना युक्तता असंभव है।

इस महाकर्म के फलस्वरूप उर्ध्वतम लोक से समस्त लोक लोकान्तर क्रमशः अवतरित हो रहे हैं, एवं चन्द्रलोक का आश्रयण कर ये सभी लोक विद्यमान हैं। यहां तक का कार्य सेवा द्वारा सुसम्पन्न हो चुका। समस्त लोक-लोकान्तर के अवतरण के पश्चात् जो रिक्त स्थान वचेगा, वह कुमारी तत्त्व द्वारा पूर्ण होगा। कुमारी तत्व की सहायता विना विज्ञान का कार्य कैसे होगा? शक्ति के कार्य में उसके अर्थ की उपलब्धि होती है, किन्तु तत्व के कार्य में क्या मिलेगा? इसका समाधान कर्म द्वारा ही संभव है।

*

कालनाशक कर्म

मन का साधन एवं मनुष्यत्व का विकास

मूलतः शक्ति एक और अभिन्न होने पर भी, कार्यतः तीन प्रकार की है। यही त्रिशक्ति व्यवहार भूमि में अनन्त प्रकार से आत्मप्रकाश करती है। देहधारण के पश्चात् त्रिविधशक्ति की सहायता से मरदेहोचित कर्म पूर्ण होता है एवं मनुष्यत्व के पथ की प्राप्ति होती है। इन्हीं तीन शक्तियों में सर्वप्रथम कर्मशक्ति, तत्पश्चात् ज्ञान-शक्ति का स्थान है। अन्त में भावशक्ति का स्थान निर्दिष्ट है।

कर्मशक्ति महाशक्ति है। यह मायाहीन कठोर शक्ति है। ज्ञानशक्ति (महामाया) एवं भावशक्ति (महामहामाया) उससे अतीत हैं। ये दोनों शक्तियां मायाहीन नहीं। योगी की दृष्टि में कर्मशक्ति की महिमा अत्यन्त अधिक है, भले ही वह मायाहीन शक्ति है। कारण, किसी मार्ग में प्रविष्ट होकर, निर्विघ्न योग सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम कर्मशक्ति की उपासना आवश्यक है। जीव-शुभाशुभ, सुख-दुःख एवं नाना प्रकार के मलिन संस्कार द्वारा आच्छन्न है। वह स्थूल भावापन्न है। जबतक निर्मलता प्राप्ति द्वारा जीवत्व विवर्जित हो, सहजभाव से योगपथ पर संचरण योग्यता नहीं प्राप्त होती तबतक आत्मशोधनार्थ कर्मशक्ति आवश्यक है। कर्म की उपेक्षा कर ज्ञानप्रवेश असंभव है। कारण, प्रकृत ज्ञान अर्थात् दिव्यज्ञान-शास्त्रलोचना अथवा विचार प्रभृति से उद्भूत नहीं होता। जो ज्ञान शास्त्रालोचना अथवा विचार से उद्भूत होता है, वह है शुष्कज्ञान। कर्मशक्ति की सहायता से, यथाविधि कर्मपथ पर अग्रसर न होने से स्वभाव सिद्ध निज ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। सृष्टि के मूल में कर्मशक्ति अवस्थित है। अतएव कर्मशक्ति सृष्टि के समस्त पदार्थ एवं व्यवहारादिक की नियामिका है। सृष्टि का अतिक्रमण न होने तक कर्मशक्ति की अधीनता आवश्यक है। सृष्टि को अतिक्रम करने के पश्चात् ज्ञानशक्ति का सहाय्य आवश्यक है। ज्ञानशक्ति द्वारा ही प्राण एवं चैतन्य की प्राप्ति हो सकती है। अन्य उपाय से इनकी प्राप्ति असंभाव्य है। लेकिन योगी का चरमलक्ष्य प्राण-सान्निध्य लाभ नहीं है। यदि योगी का चरमलक्ष्य प्राणसान्निध्य ही माना जाये, तब चैतन्यरूपी पुरुषोत्तम-साक्षात्कार के पश्चात् पुनः योगपथ पर अग्रसर होने का कोई औचित्य नहीं। उस अवस्था में पुरुषोत्तम प्राप्ति के साथ साथ कर्म का अवसान हो जाता, अर्थात् ज्ञान द्वारा कर्म की परिसमाप्ति होती। तत्पश्चात् कर्त्तव्यरूप कुछ भी शेष नहीं रहता।

वस्तुतः यह अवस्था चरमलक्ष्य रूप में परिगणित नही होगी। ज्ञान के पश्चात्

भाव शक्ति का विकास आवश्यक है। अन्यथा प्राण सान्निध्य के पश्चात् निजस्व मन की प्राप्ति कैसे होगी ? जगत की प्रचलित साधन प्रणालियों में चैतन्यरूपी प्राण का साक्षात्कार हो जाने पर मन का कहीं अस्तित्व ही नहीं रहता। इसी कारण अबतक प्रकृतबोध प्राप्तिरूप मनुष्यत्व की प्राप्ति का द्वार बन्द है। पूर्वोक्त कर्मशक्ति एवं ज्ञान-शक्ति के समन्वय से भावशक्ति विकसित होती है। भावशक्ति की प्राप्ति विना निजस्व मन का संधान असंभव है। निजस्वमन की प्राप्ति से योगी चिरकाल जनित अव्याहति प्राप्त करेगा। कर्मशक्ति से संहार क्रम होता है। (कर्मशक्ति के प्रभाव से मुक्त होते ही संहारलीला समाप्त होगी) ज्ञानशक्ति द्वारा प्राणदर्शन होगा। परन्तु यह प्राणदर्शन भी सम्पूर्णरूपेण संहारलीला का उन्मूलन करने में अक्षम है। यदि प्राणदर्शन से संहारक्रम का उन्मूलन हो सकता तो ज्ञानीजन देहत्याग क्यों करते ? स्पष्ट है कि ज्ञान द्वारा चैतन्य की अपरोक्षानुभूतिरूप दर्शन प्राप्त होने पर भी देह प्रभावित नहीं होती। अर्थात् ज्ञान से देह में चैतन्य का विकास नहीं होता। अतएव देह अमरत्व से वंचित रह जाती है। ज्ञानीजन मृत्युजय में समर्थ नहीं। देह में चैतन्य का संचार एकमात्र मन द्वारा संभव है। मन जाग्रत नहीं तब देह कैसे जाग्रत होगी ? जिन साधन प्रणा-लियों में मन उपेक्षित है, उनमें देह की उपेक्षा अवश्यम्भावी है। वस्तुतः देह एवं मन अपने जड़त्व का परिहार करने में असमर्थ हैं, अतः यथासमय चैतन्य से वियुक्त हो जाते हैं। देह, काल का ग्रास बन जाती है। तब मन का संधान कोई नहीं रख पाता। मन उस समय भूलुन्ठित हो जाता है। देह, प्राण एवं मन का सम्बन्ध चिर-काल के लिये विच्छिन्न हो जाता है। ज्ञान के द्वारा मृत्युजय सम्भव नहीं। निजस्वमन भावशक्ति की वस्तु है। निजस्वमन की प्राप्ति से मृत्यु की आशंका समाप्त हो जाती है।

अतएव भावशक्ति पर्यन्त कर्म पूर्ण करना आवश्यक है। निजस्व मन के अभाव में, कालराज्यवासी होकर काल की संहारलीला की अधीनता अवश्यम्भावी है। जब तक प्राणी का जीवदेह स्थित रहता है, तबतक कर्मशक्ति के साथ उसका विशिष्ट सम्बन्ध रहता है। पहले कह चुका हूँ, कर्मशक्ति जीव को गुरुसान्निध्य प्राप्ति का पथ दिखलाती है।

चैतन्यरूपी प्राण की प्राप्ति का एकमात्र उपाय है, कर्मशक्ति प्रदर्शित पथ पर अग्रसर होना। कर्मशक्ति की साधना में जीवभाव अक्षत रहता है। यह अत्यन्त स्थूल प्रारम्भिक अवस्था है। इस अवस्था में चित्त में विचार-बुद्धि का उदय अपरिहार्य है। वास्तव में कर्म का उदय, सम्पादन, निर्विचार रूप में होना चाहिये। संशय, विचार, अश्रद्धा, आशंका प्रभृति भाव का वर्जन आवश्यक है।

अन्यथा कर्म निर्दोष न होकर सदोष होगा। लेशमात्र त्रुटि अथवा दोष की छाया से आच्छन्न कर्म, यथोचित फलदायक नहीं होता। कारण एवं कार्य का नियत सम्बन्ध अनुल्लंघनीय है। यदि कारण में वैगुण्य है तो कार्य वा फल की उत्पत्ति कैसे होगी? अतएव जीवभाव में कर्मानुशीलन के समय (कर्मशक्ति की सहायता से, कृपा से) कृतकर्म दोषयुक्त होने पर भी निर्दोष एवं विशुद्ध अवस्था प्राप्त करता है। यह कर्मशक्ति का प्रभाव है अथवा चैतन्यमयी माँ की कृपा। इसके लिये सेवा द्वारा कर्मशक्ति को संतुष्ट करना होगा।

देहकृत् सुख-दुःख, अच्छा-बुरा सबका योग करके कर्मशक्ति की क्रिया का उद्यापन करना होगा। फलस्वरूप "प्राण" का सान्निध्य प्राप्त होगा। सेवाकार्य अति-सरल होते हुये भी अत्यन्त कठिन है। कर्मीजन नरदेह धारी हैं। सेवा प्राप्ति द्वारा प्रत्येक की संतुष्टि होती है। आदिशक्ति की कल्पितमूर्ति नरदेहधारिणी अक्षत कुमारी को संशयरहित चित्त से महादेवी स्वरूप मानकर, आत्मवत् सेवारूपी तृप्तिदान देना होगा। "सेवा धर्मः परमगहनः योगिनामप्यगम्यः" कर्मी कर्मशक्ति को ग्रहण करता है। नरदेह में जिस प्रकार चैतन्य की अभिव्यक्ति है, वैसे ही देवी-देवता में चैतन्य अभिव्यक्त है। अतः चैतन्यमयी की सेवा कर उनका प्रसाद ग्रहण करना कर्त्तव्य है। इससे स्थूलदेह एवं जड़देह की मलिनता विच्छिन्न हो जाती है। भावराज्य में निवास करने पर भाव ही योग होता है, योग भावरूप नहीं होता। विचित्र संसार भाव द्वारा संचालित है।

चैतन्यमयी की सेवा एवं प्रसादग्रहण की महिमा से जड़देहस्थ समस्त दुःष्कृतियों की निवृत्ति होती है। किसी भी प्रकार की मलिनता देह का स्पर्श नहीं करती। मलिनता रहित शून्यस्थान, ज्ञानशक्ति के आविर्भाव हेतु, मानो उन्मुक्त द्वार स्वरूप है। कर्मशक्ति राज्य से होकर ज्ञानशक्ति राज्य में उन्नीत होना, देहधारी के लिये परम श्रेष्ठ स्थिति है। उस समय नरदेह स्थित पाप-पुण्य, सुख-दुख, प्रभृति समस्त मल शुद्ध हो जाते हैं। ज्ञानशक्ति के प्रभाववशात् वे समष्टिबद्ध एवं पिण्डबद्ध होकर, चैतन्यमय तेजोमय प्राण के समक्ष उपस्थित होते हैं। स्थूल जगत् में स्थित समस्त सूक्ष्म एवं बृहत् वस्तु तथा नरदेह स्थित् सकल सूक्ष्म एवं कार्यरत् स्थूल तंत्री मिलित होते हैं और भावशक्ति का पथ उन्मुक्त हो जाता है। ज्ञानशक्ति का स्वकार्य यहीं समाप्त होता है। इससे उर्ध्व में ज्ञानशक्ति की गति नहीं। कारण ज्ञान की सहकारिता से भावशक्ति राज्य में प्रवेशाधिकार नहीं मिल सकता। पिण्डवत् चैतन्यमय प्राण द्वारा किसी कार्य को करना असंभव है, क्योंकि तब एक प्रकार का स्थिर एवं निष्क्रियभाव स्वयमेव उदित होता है। निष्क्रिय एवं स्थिर भाव की विद्यमानता में अग्रगति असंभव है। क्या कर्म एवं ज्ञान से अतीत, स्थिर शान्तिमय अद्वैत सत्ता से

अतीत, इस परधाम में प्रवेश संभव होगा ? इस स्थान में कर्म का प्रवेश नहीं, यहां ज्ञान भी चिर अस्तमित है। ईश्वर एवं जीवभाव, इस अवस्था में कुछ भी करने में असमर्थ हैं। अतः इस पथ को कौन प्रकाशित करेगा ? जगत् में इस परमधाम का संधान दुर्लभ है। कोई कोई महाभाग्यशाली योगी इस परमधाम का किंचित संधान पा सके हैं। दुःख है, आज पर्यन्त इस आभास को कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सका। इस परमधाम के कर्म हेतु क्षण की आवश्यकता है। कर्मशक्ति में क्षण का लक्ष्य अनुभूत होनेपर, ज्ञानशक्ति की पूर्णता के पश्चात्—विराट चैतन्यमय गुरु के सान्निध्यद्वारा भावशक्ति का ग्रहण संभव होगा। जीवदेहधारी चैतन्यमय योगी गुरु के अतिरिक्त कोई भी क्षणधारण का पथ प्रदर्शित कर सकने में असमर्थ है। कर्मभूमि में नरदेहधारी सद्गुरु का यही प्रयोजन है। इनकी कृपा बिना त्रिविधशक्ति की प्राप्ति असंभव है। वर्त्तमान जगत् में क्षण की महिमा विस्मृतप्राय है। क्षण की सहायता बिना काल का विनाश कैसे होगा ? प्राचीनकाल में योगीगण क्षण एवं काल के मध्यस्थित् उत्कर्ष-अपकर्ष से अवगत थे। वे क्षणधारण का रहस्य जानते थे अथवा नहीं, यह अज्ञात है। योगभाष्यकार व्यासदेव-क्षण को वास्तविक एवं काल को बुद्धि-कल्पित कृत्रिम पदार्थ मानते हैं। उनके मतानुसार चित्तवृत्ति की निरुद्ध अवस्था में बुद्धि के उपसंहार के साथ (बौद्ध-वृत्ति उदय) ही क्षण का उदय होता है। तब अतीत एवं अनागतरूपी काल का विस्तार नहीं रहता। इस अवस्था में काल से अतीत, एक स्वयंम्प्रकाश चैतन्यमयी सत्ता-अपने आप में विश्रान्त रहती है। किम्बहुना, यह अखंण्ड महायोग में लक्षित क्षणतत्व के अनुरूप सिद्धान्त नहीं।

त्रिविधशक्ति के आयत्तीकरण द्वारा, मन वशीभूत होकर निजस्वरूप होगा। मन, प्राण एवं देह के परस्पर वियोग द्वारा चैतन्यस्वरूप "अबोध" स्थिति की प्राप्ति होती है। एक मत से यह देह से अतीत अवस्था है। अन्यमत से मनोवर्जित कैवल्य अवस्था का आभास है। प्रकृतपक्ष से मन का वर्जन आवश्यक नहीं। उसे कर्मकौशल द्वारा क्रमशः निजस्व बनाना होगा। निजस्वमन कभी भी देह एवं चैतन्य का त्याग नहीं करता। वशीभूतमन (निजस्वमन) के साथ प्राणरूपी चैतन्य के समन्वय का साधन करना होगा। यही प्राण और मन का ऐक्य है। इसी का नाम है, प्रकृत साम्य अथवा सामरस्य। इस सामरस्य से प्राणी विज्ञान राज्य की अथवा गुरु-शिष्य सम्बन्ध मूलक चरम राज्य की स्थापना करने में समर्थ होगा। पहले कह चुका हूँ कि प्राण सूर्य है एवं चन्द्र मन। अतएव चंन्द्र एवं सूर्य के समन्वय बिना विज्ञान राज्य की स्थापना नहीं हो सकती।

मरदेह का वर्जन करने से (अर्थात् देहान्त रूपी मृत्यु के वरण द्वारा) पूर्वोक्त समन्वय सिद्ध नहीं हो सकता। देह ही नहीं तो मन की कहां से खोज होगी ?

इसके अतिरिक्त व्यष्टि चैतन्य भी निराधार होकर समष्टि चैतन्य में मिल जाना चाहेगा। ऐसी अवस्था में आत्मा का स्थायी व्यक्तित्व अभिव्यक्त नहीं होगा, एवं भविष्य में भी उसके अभिव्यक्त होने की कोई संभावना शेष नहीं रहेगी। अतः मरदेह में अवस्थान करते हुये समग्र कर्म को सम्पादित करना होगा। विना देह के, कर्म सिद्धि की आशा व्यर्थ है। शिव-शक्ति सामरस्य, ह (सूर्य)—ठ (चन्द्र) योग प्रभृति नाना प्रकार के मिलित भाव का निदर्शन शास्त्रों में उपलब्ध है। राधा-कृष्ण का मिलन, इस महासामरस्य का एक अंग मात्र है। कोई भी समन्वय प्रभावी नहीं होगा, यदि देह में अवस्थित होकर प्राण एवं मन के समन्वय रूप में उसकी परिणति न की जा सके। ऐसा समन्वय आज तक नहीं हो सका। इसका कारण है, ज्ञानशक्ति द्वारा परमचैतन्य प्राप्ति के पश्चात्, मन का कोई अस्तित्व परिलक्षित नहीं होता। जिस स्थिति में चिर-निरुद्ध मन का उत्थान ही संभव नहीं, उस स्थिति में मन के साथ प्राण का मिलन कैसे घटित हो ? जागतिक धर्मशास्त्रों में मन के जिस स्वरूप का वर्णन है, वह मन प्राण के साक्षात्कार के पश्चात्, चिरकाल के लिये लुप्त हो जाता है। धर्मशास्त्रों में वर्णित उस मन के द्वारा प्राण के साथ त्रिकालवर्त्ती स्पर्धा कैसे संभव होगी ?

वस्तुतः, प्राण की अपेक्षा मन दुर्बल नहीं है। वरन् प्राण से भी तेजस्वी रूप है। लेकिन तेजस्वी होने से क्या लाभ ? अनुशीलन विना, कोई भी मन की बलवृद्धि नहीं कर सका। मन का उद्भव स्थान है क्षण। एक लक्ष्य पूर्वक क्षणधारण से मन में अनन्त शक्ति का स्फुरण होता है। इस अवस्था में मन देहभेद करने में समर्थ होगा। वह देहातीत महाप्राण के साथ समसूत्रवत् मिलित हो सकेगा। यह मिलन आवश्यक है। मन को निरुद्ध कर प्राण को कारामुक्त करना (महाप्राण से युक्त करना) आवश्यक नहीं। जब तक मन में बलाधान नहीं होगा तब प्राण का साम्मुख्य उसके लिये अवैध है।

अतएव सेवा एवं कर्म का माहात्म्य कीर्तित है। सेवा के फलस्वरूप भावशुद्धि होती है। कर्मद्वारा योगपथ का अन्तराय दूरीभूत होता है। योगपथ का उद्यापन कर, ज्ञान के साथ भाव का (प्राण के साथ मन का) समन्वय करना होगा। इस समन्वय से परमवस्तु प्रकाशित होगी। केवल प्रकाश ही होगा ऐसा नहीं, वरन् उसके साथ योगस्थापन होगा। सान्निध्य एवं समस्त परमशक्ति की प्राप्ति भी होगी। मरदेह में अमरत्व का अवतरण होगा। यह है अखण्ड महायोग की कर्म पद्धति। पूर्वोक्त प्रणाली द्वारा ५१ मास पर्यन्त यह महाकार्य—स्थूलदेहाश्रय द्वारा सम्पन्न हुआ है। प्रथम सत्रहमास में स्थूलदेह के कर्म का उद्यापन हुआ। प्रकृति को आयत्त करने के लिये कर्म के विना अन्य कोई उपाय नहीं। जब विशाल प्रकृति आयत्त हो जाये, तभी

स्थूल देह का कर्म सम्पूर्ण मानना चाहिये। जब यह विशाल प्रकृति आयत्त हो जाती है, तभी अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञानभूमि में प्रवेशाधिकार प्राप्त होगा। अवशीभूत प्रकृति, महाज्ञान के पथ में प्रधान अन्तराय है। ज्ञानराज्य में प्रवेश हेतु इन सभी अन्तराय का अपसारण आवश्यक है। प्रकृति—विजित हुये बिना प्रसन्नभाव से पथिक के लिये पथ छोड़ने को प्रस्तुत नहीं होगी। स्थूल देह का अभिमान, प्रवल भाव में स्थित रहने से बुद्धि में विचार का उदय होना अवश्यंभावी है। जिसके मन में स्थूल देह का अभिमान जितना अधिक है, उसका चित्त उतने अधिक संशय, शंका प्रभृति भावों के आक्रमण से विक्षिप्त रहता है। श्रद्धा-विश्वास, निःसंशयता, एवं स्वच्छ अन्तःकरण से यथाविधि कर्म का सम्पादन करना होगा। संशय, शंका प्रभृति से रहित होना होगा। अन्यथा फल लाभ में विघ्न की संभावना है। इन सभी दोषों के परिहार हेतु विशिष्ट शक्ति की सहायता अभीप्सित है। जब तक स्थूलभाव स्तिमित नहीं होता; तब तक विशिष्ट सेवाकार्य अपरिहार्य है। इसी कारण प्रथम सत्रहमास के कर्म में विशिष्ट मातृसेवा (कुमारीसेवा) प्रधान रूप से अनुष्ठित हुई। मातृसेवा के फलस्वरूप (अपरिहार्य विचार बुद्धि एवं संशयसंकुलता रहने पर भी) कर्मी का कर्म नष्ट नहीं होता। तत्पश्चात् विभिन्न कठोर नियमों का पालन करते हुए द्वितीय सत्रहमास में एक्यानवे लाख संख्यक जप संख्या को पूर्ण करना पड़ा। इस जप द्वारा विश्व-प्रकृति आयत्त होती है। जप के द्वारा जापक (साधक) सिद्धिलाभ करता है। उस समय समस्त सिद्धियाँ कर्मी को हस्तामलकवत् होती हैं। देह, मन, प्राण, चन्द्र, सूर्य, जन्म-मृत्यु, भूमण्डल, सृष्टि के समस्त अंग प्रत्यंग—समूल एवं संम्पूर्णरूपेण आयत्त होते हैं। श्रीगुरुदेव की उक्ति है—"जपात्सिद्धिः"। तत्पश्चात् (समस्त दृश्यों का निरूपण करने योग्य) यंत्रात्मक एकलक्ष्यरूपी चक्षु का आवरण अपसारित हो जाता है। इसी का नाम है—ज्ञान चक्षु का उन्मीलन अथवा दिव्यदृष्टि लाभ। इसके लिये अनेक कर्मों का समापन आवश्यक था। साथ ही प्रति पक्ष में अभिनव कर्म के अनुष्ठान की भी आवश्यकता थी। कालोपयोगी विभिन्न कर्म की असम्पूर्णता वशतः अग्रगति रूद्ध हो जाती है। जिस देह में जिस परिमाण में कर्म का सामर्थ है, उसे उसी परिमाण में कर्म प्रवृत्त करना होता था। उस व्यक्ति से तत्-तत् परिमाण में कर्म सम्पन्न कराकर श्री गुरु को अर्पित करना मुख्य कर्तव्य था। श्री गुरु उसे अपने कर्म कोषागार में संचित करते थे। कर्मी द्वारा कृत् कर्मसमूह श्री गुरु के पास गुच्छित होते गये। इन सत्रह मास की कर्मक्रीड़ा में जो-जो घटित हुआ, उसकी विस्तृत वर्णना इस ग्रन्थ में नहीं की जा रही है। इस समय कर्मद्वारा कर्मशक्ति पूर्ण हो गई है। इसी का नामान्तर है जीवत्व का कर्म। कर्म की अपूर्णता वर्तमान रहते, ज्ञानशक्तिराज्य में संचार संभव नहीं।

जीवत्कर्म की परिसमाप्ति के पश्चात् जिस स्तर की उपलब्धि होती है—वही

है गुरु या इष्ट। स्थूल देह में अनिष्ट एवं इष्ट (कर्म शक्ति के) कर्म सम्पादनवशात्, इन सकल वस्तुओं से गुरुरूपी प्रगाढ़ शक्ति अभिव्यक्त होती है। गुरुशक्ति धारण हेतु योग्यता आवश्यक है। योग्यता का मूल है निर्विचार निःसंशय भाव। विचारशून्यता के अभाव में प्राणरूपी चैतन्य की धारणा असंभव है। कर्मशक्ति सम्पादन के समय सविचार अवस्था से उतनी हानि नहीं होती। कारण विशिष्ट सेवा अनुष्ठान (कुमारी सेवा) द्वारा कर्मशक्ति प्रसन्न होती है एवं सविचार अवस्था जनित अभाव को दूर कर देती है। कर्मशक्ति को स्थूल कहता हूँ, कारण उस समय स्थूल देहाभिमान वर्त्तमान रहता है। उस समय स्थूल सेवा (कुमारी सेवा) की सहायता आवश्यक है। परन्तु ज्ञान सूक्ष्म है। वह कर्म के समान स्थूल नहीं है। अर्थात् चैतन्य या गुरु सूक्ष्म है—कर्म या शिष्य स्थूल है। लक्ष्य प्राप्ति के पश्चात् शिष्य के स्थूलत्व का परिहार हो जाता है। कारण अब शिष्यरूपी लक्ष्य सूक्ष्म है। वहाँ स्थूल के लिये कोई स्थान नहीं। यह ज्ञान प्राप्ति की परावस्था है। उस काल में मात्र शुद्धगुरु अवस्थान करते हैं। इस अवस्था में द्रष्टारूप में स्थूल जगत् के यावतीय दृश्य की धारणा होती है। किन्तु यही परिसमाप्ति नहीं। कारण, द्रष्टा के निजस्वरूप में अभिन्नभावेन दृश्य स्फुरण तो होता है, फिर भी ज्ञानशक्ति का कार्य अवशिष्ट रह जाता है। भगवान शंकराचार्य दक्षिणामूर्ति स्तोत्र में कहते हैं :—

"दृश्यं दर्पण दृश्यमाननगरीं।
तुल्यं निजान्तर्गतम्॥"

यह सम्पूर्णतः सत्योक्ति है। दर्पण में अनन्त वैचित्र्यमय दृश्यसमूह परिस्फुट-रूप से प्रकाशित होते हैं, अथच समस्त प्रतिबिम्बात्मक दृश्य वस्तुतः दर्पण से अभिन्न हैं। उसी प्रकार समस्त विश्व चिन्मय आत्मसत्ता से अभिन्न है। माया की महिमा अनन्त है। उसके प्रभाववश् आत्मा में अन्तःस्थित एवं उसके साथ अभिन्न भाव से विद्यमान विश्व, मायाधीन आत्मा (जीवात्मा) के समक्ष बाह्यरूप से, पृथक् रूप से, आत्मातिरिक्त रूप से प्रतीत होता है। ज्ञानशक्ति की क्रिया से माया अपसारित होती है। तत्पश्चात् "स्व" में समग्र दृश्य अभिन्नरूपेण स्फुरित होता है। वस्तुतः द्रष्टा की स्वरूप स्थिति ही अनन्त दृश्यमाला की धारणा है। अर्थात् जब एकमात्र द्रष्टा अवशिष्ट रहता है, तब बाह्यदृश्य नामक कोई सत्ता नहीं रहती। यह ज्ञानशक्ति का आंशिक फल है। वस्तुतः ज्ञानशक्ति का कार्य अभी भी समाप्त नहीं हुआ। तत्पश्चात "प्रणाम" आवश्यक है। जिस विचारहीन विशुद्ध लक्ष्य का वर्णन पहले किया जा चुका है, उसे प्रमाणित करने की शिक्षा देना आवश्यक है। (प्रमाण—अर्थात् उपलब्धि) प्रमाण की प्राप्ति पर्यन्त ज्ञानशक्ति लक्ष्य का त्याग नहीं करती।

ज्ञानशक्ति द्वारा प्रमाण सम्पादन अत्यन्त दुरुह व्यापार हैं। साधारण अवस्था में भी कोई वस्तु दृष्टिगत होने पर विना प्रमाण के ग्राह्य नहीं होती। द्रष्टा अवस्था में उपनीत होकर (सर्वदर्शी अवस्था) भी ज्ञानी तृप्तिलाभ नहीं करता। कारण इस सर्वदर्शन में उपयुक्त प्रमाण आवश्यक है। अतः द्वितीय सत्रह मास के अनुष्ठान में "प्रमाण" का कार्य सम्पादित हुआ। देहरूप विश्व में कौन-कौन पदार्थ स्थित हैं, इसका निर्णय देहभेद द्वारा ही संभव है। अर्थपूर्ण तत्व का भेद न होने तक ज्ञान का अवसान नहीं होता। ज्ञान का अवसान हैं—वेद का अन्त। अर्थात् प्रकृत वेदान्त। ज्ञान की परिसमाप्ति से अर्थात् वेदान्त आयत्त होने से ही वेदान्त एवं ज्ञान से अतीत कर्म का सूत्रपात होता हैं। आरंभ में कर्म के दुर्गम स्तर का अतिक्रमण कर सुगम स्तर की प्राप्ति करना होता है। जो पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञान का प्रमाण देने में समर्थ है उसे "प्रणाम" सिद्ध होता है। यह अत्यन्त कठिन कर्म है। उस स्थिति में सूक्ष्म देह धारण, स्थूल में प्रविष्टि, स्थूल-सूक्ष्म के भेदाभेद का ग्रहण, एवं विश्व भेदाभेद शक्ति को आयत्त करना संभव होता है। यह अत्यन्त जटिल कर्म है। परंतु इसकी परिसमाप्ति आवश्यक है। अन्यथा ज्ञानातीत भूमि में संचार असंभव है। जिस प्रकार साधारण मनुष्य जीवन यापन करता है, उस प्रकार की विधि द्वारा इस दुरुह कर्म का उद्यापन असंभव है। इस कर्म के संपादन काल में इस संसार के अन्न, जल, वायु, प्रभृति एवं निद्रा, घृणा, लज्जा, अभिमान, अपमान प्रभृति वृत्ति का सर्वप्रकार से वर्जन करना होता हैं। उस समय परिपूर्ण सूक्ष्म तत्त्व का उद्घाटन नहीं होगा, तो सूक्ष्म तत्त्व के उपर अधिकार कैसे संभव है? सूक्ष्मतत्त्व के आवरण का अपसारण कर सूक्ष्मतत्त्व को उन्मुक्त करना होगा। इसीलिये समग्र विश्व या समग्र देह का भेद आवश्यक है। देहभेद के अभाव में देहातीत सूक्ष्म सत्ता कैसे उपलब्ध होगी? इस विश्व में क्रमविन्यस्त ६१ वेष्ठन एवं ६१ देह क्रमशः कर्मपथ पर प्रकाशित हो उठते हैं। देह के किस स्थान में कौन वस्तु है, कहाँ कौन शक्ति किस प्रकार कार्यरत है, वह क्या करती है, एवं कैसे कार्य करती है, इन सबका सम्यक् आयत्तीकरण न होने से ज्ञान की साधना पूर्ण नहीं होती। स्थूल देहधारी कर्मी का अवलम्बन लेकर इस महान कर्म का सम्पादन हुआ है। इस प्रकार द्वितीय सत्रह मास की समाप्ति में प्राण की उपलब्धि के साथ-साथ ज्ञान का कर्म समाप्त हो सका। यह 1351 बंगाब्द शरद पूर्णिमा की घटना है।

इसके पश्चात् तृतीय सत्रह मास के पूर्वार्ध में भावशक्ति कर्म का श्रीगणेश हुआ। अब प्राण–स्थूल, एवं सूक्ष्म का समन्वय करते हुये ज्ञानशक्ति में पूर्णत्व दान कर उद्वृत्त हुआ। इसी का नाम है भावशक्ति का आविर्भाव। इस समय ज्ञान की ज्ञानातीत भूमि ही भाव रूप में परिणत हुई। तब गुरु, शिष्य, सेवा, कर्म और ज्ञान

रूपी पञ्चप्राण एकीभूत हो गये। तब महाशक्ति, महामहामायाशक्ति, एवं महामायाशक्ति के अंग निर्मित हुये। अमूर्त शक्ति ने पूर्ण मूर्त्त आकार धारण किया। स्थूल के प्रति प्राण का क्या कर्त्तव्य है, इसका बोध प्राण में अवतरित हुआ। स्थूल से सूक्ष्म में गतिमान होना एवं सूक्ष्म से स्थूल में पुनरागति प्राप्ति, इन उभय गतियों के मध्यस्थल में (सन्धि में) कर्म सम्पन्न करना होता है। यह महाभाव की अवस्था है। उस समय पृथ्वी पर कुछ भी प्राप्य नहीं रह जाता। अर्थात् स्थूल से सूक्ष्मगमन एवं सूक्ष्म से स्थूलगमन, यह कर्म महाभाव के पश्चात् शेष हो गया।

निःशेष हो गये इस कर्म को पुनः आविर्भूत करना होगा। अन्यथा मनुष्य का अभावरूपी स्वभाव जाग्रत नहीं हो सकेगा। इसी उद्देश्य से सेवा एवं नित्यकर्म दोनों में अक्षुण्ण रहते हुये, पुनः नूतन कर्मशक्ति को जाग्रत करना पड़ा। इस समय समग्र स्थूल सत्ता को विद्ध करने के लिये सूक्ष्म सत्ता का निर्यातन आवश्यक ज्ञात हुआ। कारण सूक्ष्मानुप्रवेश विना स्थूलपक्ष जाग्रत नहीं होता।

समग्र जगत् साधारणतः प्राण अथवा चैतन्य को सर्वोच्च स्थान देता है। सभी किसी न किसी प्रकार से चैतन्य के उपासक हैं। किन्तु चैतन्य (प्राण) वास्तविक वस्तु नहीं है। स्वभाव, मनुष्यत्व एवं मन—ये तीनों नरदेहस्थ विशिष्ट वस्तु हैं। सूक्ष्म प्राण का कर्म समाप्त कर मन के कर्म को करना पड़ा। अर्थात् पुनः शान्त महाकाल का कर्म आविर्भूत हुआ। इसीलिये तृतीय सत्रह मास में निर्विचार एवं निःसंशय कर्मशील तथा युक्त लक्ष्य सम्पन्न व्यक्ति, अचिन्त्य शक्ति को नरदेह में आयत्त कर, उसके द्वारा विशाल काल का वेष्ठन करने में समर्थ हुये। काल अवरुद्ध होने के साथ-साथ, मन का मार्ग उन्मुक्त हो गया। शरद पूर्णिमा के परवर्त्ती कर्म का उद्देश्य था—मन को उन्मुक्त कर उसका निजस्व रूप में आयत्तीकरण। इस वशीभूत, निजस्व मन की सहायता से, मनोमयी महाशक्ति मां का द्वार खुल गया। अब बाकी है—मां पुकार कर मां को ग्रहण करना।

★

महायोग की प्रतीक्षा

(विश्वव्यापी "मां" उच्चारण की आवश्यकता)

पहले जो विवरण दे चुका हूँ, उससे स्पष्ट है कि जिस महत् उद्देश्य की पूर्ति हेतु विशुद्धसत्ता का जगत में अवतरण हुआ, उसका प्रथमांश सम्पन्न हो चुका है। त्रिविध शक्ति के कर्म का समापन कर जो महावस्तु प्राप्त हुई, उसका नाम है—निजस्व मन या मनुष्यत्व। तीन सत्रह मास पर्यन्त (५१ मास) जिस कठोर कर्म का अनुष्ठान हुआ, उसके फलस्वरूप इस दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति हो सकी। सृष्टि पूर्व से आज तक कभी भी इस परम वस्तु का प्रकाश नहीं हुआ। कालक्षयकारी कर्म द्वारा कालनाशिनी मां का आविर्भाव, इसी का नामान्तर है।

दुःख है कि आविर्भाव होने पर भी वाह्य जगत में कोई इससे अवगत नहीं। आज भी काल की लीला प्रबल वेग से चल रही है। बुझने के पूर्व दीपक अचानक कुछ अधिक उज्ज्वल हो जाता है। इसी दृष्टान्तानुसार, निष्क्रिय या निरुद्ध होने के पूर्व यह कराल काल, विविध विरुद्ध शक्तिरूप में, संसार के संहार हेतु तीव्र वेग से प्रज्वलित हो उठा है। काल अपना कार्य करेगा, उसी प्रकार मां भी अपना कार्य करेगी। अभी भी समष्टि मन का अवतरण जागतिक सत्ता को आधार बनाकर नहीं हो सका है। यह निश्चित है—अवतरण होगा एवं अवतरण का समय अब दूर नहीं। निकटवर्त्ती है। समष्टिमन का अवतरण संघटित होते ही जगत् में एक शोभनीय परिवर्त्तन होगा। अवतरण हेतु मुहूर्तमात्र समय अपेक्षित नहीं, क्षणमात्र में, तड़ित् प्रभा जैसी शीघ्रता से, यह अवतरण व्यापार निष्पन्न होगा।

इसके फलस्वरूप संहार अवश्यंभावी है, अथवा नवीन, अभिनव सृष्टि होगी—यह जानने की उत्सुकता हो सकती है। उत्तर है कि एक साथ ही संहार एवं सृष्टि का प्रकाश होगा। कह चुका हूँ—चन्द्र ज्ञानरूपी है एवं सूर्य विज्ञानरूपी। समष्टि मन का अवतरण वस्तुतः विश्वव्यापी ज्ञान का अवतरण है। अब तक जगत में इस ज्ञान का अवतरण नहीं हुआ था। जिन्होंने जगत् में ज्ञान लाभ किया है, उन्होंने व्यष्टिमन की क्रिया उपलब्ध की है। व्यष्टिमन की उपलब्धि एक प्रकार से ज्ञानमय खण्ड ज्ञान है। यह ज्ञान व्यापक समष्टि ज्ञान नहीं है। अवचेतन मन की क्रिया सम्पूर्णतः आयत्त नहीं हो सकी अतः आज तक मन समष्टि रूप नहीं हो सका। समष्टि मन का आविर्भाव एवं विशुद्धसत्ता का स्थूलावतरण—वास्तव में एक ही स्थिति है।

विशुद्धसत्ता का आविर्भाव तथा सूक्ष्मभाव से मां का आविर्भाव समानार्थक हैं। विशुद्धसत्ता के अवतरणोपरान्त, विशुद्ध-काय द्वारा कर्मोद्यापन ही सूक्ष्मरूपा मां के स्थूलभाव में अवतरण का हेतु एवं कारण है। तत्पश्चात मां के अवतरण की अभिज्ञता होती है। लेकिन प्रत्येक मनुष्य को मां की क्रिया का अनुभव, तभी होगा, जब वह शिशुभाव ग्रहण कर मां के साथ युक्त हो सकेगा। योग प्रतिष्ठा के लिये दो वस्तु आवश्यक हैं। मैं जिस महायोग की चर्चा कर रहा हूँ उसके लिये भी दो वस्तु आवश्यक हैं। प्रथम है मां एवं द्वितीय संतान रूपी शिशु। सरल एवं स्वच्छ हृदय में शिशु भाव लक्षित होता है। शिशु द्वारा स्वाभाविक "मां" उच्चारण ही मां एवं सन्तान का योग सूत्र है। अर्थात् सरल भाव पूर्वक "मां" कहना, "मां" कहकर पुकारना ही 'मां' के साथ युक्त होने का एकमात्र उपाय है। विशुद्धकाय ने स्व कर्म द्वारा मां की रचना की है। मनुष्य से अपेक्षित है—स्व कर्म द्वारा (अर्थात् स्वयं मां को पुकार कर) मां की गोद में आरोहण करना एवं मां से युक्त होना। स्वकर्म बिना यह युक्तता (योग) असम्भव है। पुरुषाकार विहीन के लिये योग दुर्लभ है। किंचित कर्म विहीन जीव मां की प्राप्ति रूप अनुभव का आस्वादन करने में असमर्थ हैं।

निजस्व मन स्वयं को आवरणमुक्त करेगा। उसी समय, तत्क्षण, उसका प्रभाव समस्त जगत् को अनुभूत होगा। निजस्वमन अपने गठन के पश्चात् ही आच्छादित हो गया है। जब तीन सत्रह मास का (५१ मास का) एवं भावशक्ति का कर्म समाप्त होकर उद्वृत्तरूपेण निजस्व मन का आविर्भाव हुआ था, तभी उनके साथ युक्त होने की सम्भावना थी। समुचित आधार के अभाव में पूर्वोक्त योग सम्पन्न न हो सका। यदि यह सम्भव होता तो निजस्व मन के ऊपर आच्छादन न पड़ता। तत्पश्चात् तत्काल चन्द्रावतरण हो जाता।

निजस्व मन का अवतरण वास्तव में विराट ज्ञान का आविर्भाव है। इस महा-ज्ञान का उदय होने से प्राकृतिक जगत् में एक विराट परिवर्तन संघटित होगा। हमलोग चतुर्दिक जिन जड़पदार्थ समूह का अनुभव करते हैं, उनका अस्तित्व नहीं रहेगा। यहाँ तक कि पशु,पक्षी, कीट, पतंग प्रभृति जीव-जन्तु भी नहीं रहेंगे। अर्थात् जिन सब पदार्थ में मन का अभाव है, वे सब उक्त ज्ञानोदय के साथ ध्वंसीभूत हो जायेंगे। इस जगत् में मन का एकमात्र आश्रय है मनुष्य देह। समस्त चौरासीलक्ष योनियों में, मन का विकास नहीं है। स्थावर और जंगम जीवो में मन का पूर्णतः अभाव है।

एकमात्र मनुष्यदेह में मन का अस्तित्व है। परन्तु वह मन भी शुद्ध मन नहीं। अतः साधारण मनुष्य को—यथार्थ मन विकास के अभाव में पशु संज्ञा दी जाती है। ज्ञान के उदय से पशुभाव निवृत्त होगा। यदि व्यष्टिमन के उपर समष्टिमन का आरोपण संभव हो सके एवं व्यष्टि मन इस भार का वहन कर सके, तो पशु भाव

विच्छिन्न हो जाता है। पशुभाव की निवृत्ति से अमरत्व स्थापन होगा। यदि व्यष्टिमन इस भार का वहन करने में असमर्थ है तव पशुत्व निवृत्त होने पर या निवृत्तप्रायः होने पर भी सम्यक् योग स्थापन नहीं होगा। अर्थात् दिव्यज्ञान के उदय का आघात् (प्रकाश) कुछ दुर्वल जीवों के लिए असह्य होगा एवं वे मृत्युमुख में पतित होगें। उनका व्यष्टिमन (विराट चैतन्य धारणा के योग्य न होने से) देह से पृथक् हो जायेगा। एवं आत्मा विदेहावस्था में विद्यमान रहेगी। किन्तु जिनका मन "माँ" उच्चारण के वल से वली होगा, वे समष्टि मन के अवतरण पर तनिक भी विचलित नहीं होंगें। वे मृत्यु को जीत सकेगें। समष्टिमन धारण की योग्यता से युक्त मनुष्य का मन देह में परिवर्तन सम्पादित करेगा (देह शुद्ध होकर कालजयी होगी)।

इस प्रकार के जीव, जीवभाव एवं पशुभाव से मुक्त होकर, ज्योतिर्मय अमर स्वरूप का लाभ कर, अपनी-अपनी योग्यतानुसार माँ के साथ युक्त होंगे। इनके शरीर अमरत्व सम्पन्न होकर जरा, दैहिक विकार, क्षुधा, पिपासा, प्रभृति किसी भी कालधर्म से अस्पृश्य होंगे। दिव्यज्ञान के फल से इन्हें प्रकृत देवभाव प्राप्त होगा। इनकी पूर्वानुभूति लुप्त नहीं होगी। पहले क्या थे, अब क्या हैं, किस प्रकार इस अवस्था की प्राप्ति होसकी, प्रभृति स्मृति अविच्छिन्न रहेगी। किन्तु जो महायोग के उदय का (व्यष्टिमन पर) आघात् न सहन करने के कारण विदेहावस्था में रहेगें, उन्हें पूर्वापर अनुस्मृति नहीं रहेगी। उनकी आत्मा देहरहित होने के कारण शांत बोधहीन अवस्था में स्थित रहेगी। साधारणतः कैवल्य अवस्था से जो ध्वनित होता है, विदेह आत्मायें उसी अवस्था में विश्रान्त रहेगी। उनका "माँ" के साथ योग नहीं रहेगा और न वे मनुष्यत्व की प्राप्ति करेगीं।

इस समय "माँ" का उच्चारण एवं उनसे युक्त होना आवश्यक है। जो पुकार नहीं सकेगा उसके साथ यह योग स्थापन संभव नहीं। कालनाशक कर्म द्वारा सवके लिये प्रकृत मनुष्यत्वदान हेतु मूलवस्तु आयत्त हो चुकी है। इस समय आवश्यक है कि समस्त जीवगण योग्य बनकर इसे धारण करें। व्यष्टि मन का यह सामर्थ नहीं कि इसकी उपलब्धि कर समष्टिरूप में स्वयं को परिणत करे। कारण, विज्ञानमय राज्य के अतिरिक्त, समष्टिभाव प्राप्त करना असम्भव है।

विज्ञान की प्रतिवंधक स्थिति का परिहार आवश्यक है। सब जीवों में एक प्रकार के बोधोदय का नाम विज्ञान है। किन्तु जब तक प्रत्येक जीव अपने करणीय कर्म का उद्यापन नहीं करेगें, तब तक एक प्रकार का बोधोदय संभव नहीं। मृत्युरूपी काल अलक्ष्य नियति के आकार में प्रत्येक जीवदेह में अनुप्रविष्ट है। क्षुद्रकाल महानियति का अंश है। देह चैतन्यमयी भूमि होगई है, इसी भूमिका पर चैतन्य एवं काल दोनों का मिलन हुआ है। इन दोनों का सृष्टिकाल एक है। "स्व"

से काल को हटाना होगा। चेतना की चिन्ता करनी होगी। निज चेष्टा (स्वकर्म) विना काल संहार संभव नहीं। देह की क्रिया से ही यह संभव है। देह की अक्रियावस्था में विज्ञान स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती।

पहले क्रमपथ उन्मुक्त था। गत तीन वत्सर से वह पथ बन्द हो गया है। क्रम के विना वोध स्फुरित नहीं होता। क्रम से ही वोध स्फुरित होता है। कार्य पूर्ण होने से क्रम का पर्यवसान हो गया। अर्थात् विराट देह से क्रम का संहार हो गया। परन्तु क्षुद्र देह में क्रम विद्यमान है। विशुद्धानन्द ने विराट् का क्रम भंग कर दिया किन्तु क्षुद्र क्षुद्र व्यष्टि के क्रम को भंग करने में समर्थ नहीं हो सके। अतः व्यक्तिगत मृत्युपथ बन्द नहीं हो सका। स्वयं में क्रम उत्पन्न हो जाने से उसका निरोध संभव नहीं। इसी कारण काल निःशेष न हो सका। वह व्यष्टि में क्रिया कर रहा है। जब तक क्रम शून्यता नहीं होगी तव तक करणीय वस्तु को धारण कर सकना या पा सकना असंभाव्य है। उसे आयत्त नहीं किया जा सकता। क्रम शून्यता हेतु इस व्यष्टि देह से "माँ" की पुकार आवश्यक है। श्रद्धाभरी पुकार सर्वश्रेष्ठ उपाय है। अन्यथा अश्रद्धा से ही पुकारना होगा। यह श्रद्धाभरी पुकार भी व्यर्थ नहीं जायेगी।

विशुद्धानन्द ने विराट कर्म का सम्पादन किया। व्यष्टि कर्म प्रत्येक द्वारा करणीय है। यदि एक व्यक्ति भी योग्यता का प्रदर्शन कर सके, तो विराट पथ, सहज पथ रूप में परिणत होगा। विराट कर्म की समाप्ति हो चुकी, अब अवशिष्ट है व्यष्टि कर्म का सम्पादन। व्यष्टि कर्म अवशिष्ट रहने से विज्ञान का आविर्भाव नहीं हो सकता। जब प्रत्येक का व्यष्टिकर्म सम्पूर्ण होगा, तभी सूर्यमय रश्मि द्वारा प्रत्येक उद्भासित होगा। इसके पूर्व यह सम्भव नहीं।

निजस्व वस्तु का पूर्णभावेन उदय हो चुका है। मात्र उसके स्वभाव का स्फुरण शेष है। प्रत्येक मनुष्य उसकी प्राप्ति कर सकता है। अर्थात् कालक्षय के लिए एकमात्र उपाय है "माँ" रूपी पुकार। सृष्टि काल से ही दो आवर्त घूम रहे हैं। एक है प्राण (चैतन्य) का आवर्त, द्वितीय है काल का अन्धकाराच्छन्न आवर्त। निजस्व वस्तु उदयकाल से ही काल के आवर्त में वद्ध हो चुकी है। मनुष्य का विकास न होने तक काल का आवर्तन अक्षुण्ण था। अब इस पृथ्वी पर (मरभूमि में देह में) विज्ञान के लिये सर्वप्रथम ज्ञानावतरण आवश्यक है। इसके लिये कर्म अपेक्षित है। इसी का नामान्तर है "माँ" को पुकारना।

माँ को पुकारने से विज्ञान का अवतरण होगा, इसमें सन्देह नहीं। जो पुकारेंगे उन्हें अनुभव रूपी रत्न की प्राप्ति होगी। जो नहीं पुकारेंगे, वे अनुभवरूपी अमूल्य रत्न से वंचित रह जायेंगे। अनुभवहीन जीवात्मा बोधरहित लीनभाव में विभ्रान्त होंगे। कारण व्यक्तिगत रूप से, उनके लिये काल अवस्थित रहेगा। विज्ञानरूपी सूर्य

का अवश्यमेव उदय होगा, एवं इस उदय की घड़ी क्रमशः निकट आती जा रही है। विराट शक्ति, अपनी शक्ति से, स्वयं आकर वलपूर्वक मनुष्यत्व दान नहीं करेगी। मनुष्यत्व की प्राप्ति हेतु, मनुष्योचित कर्म करना होगा। स्वकर्म विना मनुष्यत्व आभी जाये, तो उससे योग संभवपर नहीं। कुछ लोग मन को छोड़कर कर्म प्रवृत्त होते हैं। उन्हे इस मार्ग का ज्ञान नहीं है। जो मन काल में लीन हो जाता है, उसे पाने की चेष्टा वहुसंख्यक साधक नहीं करते। ऐसे लोगों के लिए उदयोन्मुख विज्ञान प्रतीक्षा नहीं करेगा। विज्ञान अपने उदयकाल में काललीन मन को न पाकर स्वभाव की प्राप्ति से वंचित रह जायेगा। तव जीव आत्मग्लानि ग्रस्त होगा एवं उसके लिए उद्धारपथ का संधान दुष्कर होगा। अपरोक्ष शक्ति आयत्त करना आवश्यक है। चैतन्यभूमि से उत्कर्ष प्राप्त करना, (उर्ध्वगमन) एवं व्यष्टि भूमि से काल को समाप्त करना आवश्यक है।

जप प्रभृति साधारण उपासना पद्धति की विवेचना से ज्ञात होगा कि इनके द्वारा प्राण की ओर अग्रसर हो सकना कथंचित् संभव है। किन्तु इनके द्वारा प्राण का भेदनकर मन तक पहुँचाना दुष्कर है। अतः इनके अनुशीलन से कोई भी निजस्व मन की प्राप्ति नहीं कर सका। प्राण की पूर्ण प्राप्ति से आनन्द होता है। यह सत्य है। लेकिन पूर्णभाव से मन को आयत्त न कर सकने से मन स्थित रह जायेगा। विज्ञान भी अस्तमित रहेगा। विज्ञान का उदय नहीं होगा। (प्राप्ति द्वारा) मन की समाप्ति ही विज्ञान है। इसे समग्र ज्ञान कहा जाता है। यही है निजस्व ज्ञान एवं इसे ही "अपरोक्ष ज्ञान" संज्ञा से विभूषित किया गया है।

अभी स्थूल और सूक्ष्म को भेद है, इसका समन्वय आवश्यक है। कर्मसमाप्ति की चर्चा स्थान स्थान पर सुनी जाती है। किन्तु वास्तव में कर्मसमाप्ति सहज नहीं है। जो कर्मसमाप्ति संभाव्य व्यापार मानते हैं, वे जिस स्थान से समागत हुये हैं, उसी विन्दु की ओर जा रहे हैं। वे काल को साथ नही रखते। अपितु अपने पृष्ठदिक् रखते हैं (पीछे की ओर रखते हैं)। वे सृष्टि मुख की ओर जा रहे हैं। उनके दृष्टिकोण से कर्म समाप्त हो सकता है, किन्तु यह कर्म नहीं। काल की दृष्टि से उसकी गणना कर्मरूपेण नहीं होती। यदि यह करणीय कर्म होता तो इसीसे निजस्वमन आयत्त होता। धारणा-ध्यान-समाधि, योगविभूति प्रभृति से मन आयत्त नहीं होता।

इनके अनुशीलन के पूर्व भी मन व्यष्टि था। अनुशीलनोपरान्त भी व्यष्टि ही है। इन प्रक्रियाओं द्वारा समष्टिमन एवं उसके अधीश्वर क्षण की उपलब्धि संभव नहीं। प्रश्न उठता है—निजस्व मन एवं क्षण की प्राप्ति न होने से क्या क्षति है? निजस्वमन एवं क्षण के अभाव में स्वयं का अन्वेषण संभव नहीं। अतएव अभीतक स्वराज्य का द्वार उद्घाटित न हो सका। "स्व" की खोज, एवं प्राप्ति के अभाव में

परराज्य की अध्यक्षता, क्षणभंगुर सम्पत्ति हैं। स्वयं को मुग्ध करना है। यह अस्थायी अवस्था रूप से परिगणित है।

"स्व" को खोजा या पाया नहीं जा सका। अतः जन्मातंरगमन का सिद्धान्त स्वीकृत हुआ। कर्मोद्यापन के पश्चात् जन्मान्तर वाद का कोई अस्तित्व ही नहीं। देहधारण कर लेना, जन्मान्तर नही है। चैतन्य का उदय एवं अस्त जन्मान्तर है। वास्तव में जन्मान्तर का कोई अस्तित्व नही है।

अन्धकार का कर्म पूर्ण हो गया। इस समय सबको आत्मस्वरूप की प्राप्ति कर लेना आवश्यक है। इस प्राप्ति से माँ के मातृत्वरूप में परिस्फुट शक्ति का विकास होगा। इस समय पुरुषकार रूप कमठ शिशु की आवश्यकता है। अर्थात् सरल भाव से माँ को पुकारना आवश्यक है। साधारण जीव के लिये यह सरल पथ है। वह केवल पुकार कर माँ का सान्निध्य प्राप्त करेगा। सांसारिक दलबद्ध सांम्प्रदायिक भाव इस सहज योग का विरोधी है। धर्म अखण्ड है। "माँ" स्त्री-पुरुष, वृद्ध-बालक, सभी को स्वधर्म की ओर आकर्षित कर रही हैं। वहां सम्प्रदाय निर्विशेष आकर्षण है। शक्ति का चिन्तन करते हुये अखण्डरूपा माँ को पुकारना होगा। अन्यथा निजस्व-मन की प्राप्ति असंभव है। एक धर्म, एक कर्म, द्वारा, स्वकर्म द्वारा विशाल मन की प्राप्ति करनी होगी। अन्यथा विज्ञान उनका स्पर्श तो करेगा परन्तु वे उस विज्ञान का अनुभव नहीं कर सकेंगे। विज्ञान चरमपथ का आविष्कार करने के लिये उन्मुख है। चरमपथ में नाना अवस्थाओं का अतिक्रमण करते हुये, अग्रसर होना होगा। इस समय देह-चैतन्य आवश्यक है। निजस्वमन के साथ मनुष्यत्व एवं माँ का समन्वय स्थापन करना होगा। क्षण को पकड़ कर माँ को पुकारना होगा, अन्यथा परिपूर्ण भाव में माँ की प्राप्ति असंभव है। साधारण जीवों के लिये यह कर्म निर्देश है। सभी समय "माँ" को पुकारना असंभव है, अतः निर्दिष्ट समय की व्यवस्था की गई है।

विराट आलोक (शुभशक्ति), एवं विराट अन्धकार (अशुभशक्ति) आस-पास विद्यमान है। तीव्र रूप से, आन्तरिक व्याकुलता से, आकुल प्राण से "माँ" को पुकारने पर यह विराट अन्धकार अन्तः प्रवेश पथ नहीं पा सकेगा। इस स्थिति में शुभशक्ति की क्रिया परिस्फुट करने के लिये, स्थूल अवस्था में दर्शक मनुष्य को वैचित्र्यमय संसार का अनुभव प्राप्त होगा। वह देखेगा—विशाल जगत् के समस्त वैचित्र्य, विराट अन्धकार में लीन होते जा रहे हैं। द्रष्टा के समान तटस्थ एवं उदासीन भाव में मनुष्य निर्विकार भाव से सम्मुखीन दृश्य को देखेगा। स्वयं विराट अन्धकार से अस्पृष्ट रहते हुये उसकी संहार लीला का दर्शन करेगा। समस्त जागतिक वैचित्र्य विलीन होंगे। तत्पश्चात् सर्वत्र एकाकार भाव का उदय होगा। अनन्त पृथ्वी अनन्त रूप से प्रतीयमान होगी। अनन्त लोक लोकान्तर एवं स्तरसमूह, पृथ्वी से

युक्त होंगे। पृथ्वी का अनन्त आकार द्रष्टा के सम्मुख प्रस्फुटित होगा। अशुभ शक्ति की क्रिया इस वैचित्र्य का ध्वंस करते हुये अस्तमित होगी। वह मनुष्य का स्पर्श नहीं कर सकेगी। वैचित्र्यध्वंस प्रक्रिया काल सापेक्ष नहीं है। क्रमशः एक-एक स्थान का ध्वंस नहीं होगा। एक साथ ही होगा। हमारे दृश्य जगत् की किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं रहेगा। वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, गृह, उद्यान, जलाशय तथा जगत की समस्त सामग्री—समस्त प्रपंच, मुहूर्त मात्र में, विद्युत वेग से, तिरोहित हो जायेंगे। हठात् एक अन्धकार अथवा आलोक या वाष्प के समान, किसी अचिन्त्य शक्तिशाली, तीव्र अतिन्द्रिय पदार्थ की क्रिया समस्त जगत् के उपर प्रकाशित होगी। मनुष्य—यदि सचेत न रहा, वैसी स्थिति में उसे भी इस महासंहार शक्ति की क्रीड़ा से प्रभावित होना होगा। संहार क्रिया चेतन सत्ता को आघात पहुचाने में असमर्थ सिद्ध होगी। जो चैतन्य का आश्रयग्रहण नहीं करेंगे, वे भी इस महाप्लावन में लुप्त होंगे। बोध की अविकसित स्थिति में चेतन पुरुष भी आत्मलोप अवस्था में तिरोहित होंगे। इसका एकमात्र प्रतिकार है, चैतन्य के साथ युक्त होकर चेतना में रहना, अर्थात् "माँ" को पुकारना। जो शिशु के समान सरलचित्त हो "माँ" को पुकारेंगे उनकी रक्षा चैतन्य-मयी "माँ" करेंगी। "माँ" को पुकारने में अक्षम रहने से, इस जगत् वैचित्र्य नाश के साथ ही मनुष्य का नाश अवश्यभावी है। जो पहले से "माँ" को पुकारने के अभ्यस्त हैं, वे इस संकट के समय आत्मविस्मृत नहीं होंगे। उन्हे इस ध्वंस लीला का प्रत्यक्ष अनुभव होगा। काल के उपर यह वैचित्र्यमय संसार प्रतिभासित हो रहा है। काल ही अनन्त वैचित्र्य का आश्रय है। जब महाकाल ही कालग्रसन को उद्यत होंगे, तब काल के साथ-साथ कालगर्भ स्थित समस्त संसार, महाकाल में लीन हो जायेगा। मनुष्य काल के अन्तर्गत है। अतः उसे अपनी आत्मरक्षा का उपाय ग्रहण करना आवश्यक है।

मनुष्य में आत्मरक्षा करने योग्य शक्ति है। अन्य जीव-जन्तु में यह शक्ति नहीं। जीव जगत् में एकमात्र मनुष्य में चैतन्य शक्ति है। अतः मनुष्य मात्र को आमत्रण दे रहा हूँ। "माँ" पुकारने का अधिकार, प्रत्येक को है। अतः पहले से ही इस स्वभावसिद्ध अधिकार की उपलब्धि करना एवं माँ को पुकारना आवश्यक है। "माँ" ने "मै हूँ" कहकर सन्तान को अभयदान दिया है। किन्तु सन्तान ही "माँ" को पुकारने के लिये प्रस्तुत नहीं, तब सन्तानत्व का निदर्शन नहीं रहेगा। उस समय मनुष्य के लिये आत्मसंरक्षण कठिन होगा। मनुष्य ने अपने कर्म द्वारा निजस्व मन को आयत्त किया है। कर्मशक्ति के प्रभाव से माँ का गठन किया है। इस कारण, माँ को पुकार कर उनके साथ युक्त होना, मनुष्यसाध्य है। मानवमात्र "माँ" उच्चारण की शक्ति से सम्पन्न हैं। कालक्षय का यही ऐश्वर्य है। इसके लिये अयोग्य कोई नहीं।

शक्ति रहने पर भी, शक्ति के अपव्ययवश अधिकांश पुकारने में असमर्थ हैं। संवेग एवं दृढ़ संकल्प का आश्रय लेने पर सभी पुकारने में समर्थ होंगे, यह विश्वास करता हूँ। श्रद्धा एवं एकाग्रता न रहने पर भी पुकार व्यर्थ नहीं जायेगी।

जिस प्रकार वैष्णवगण—वैधी भक्ति, रागभक्ति मर्यादाभक्ति एवं पुष्टिभक्ति रूपी भेद का वर्णन करते हैं, "मां" उच्चारण में भी वैसा भेद विद्यमान है। स्वाभाविक "मां" पुकार सर्वश्रेष्ठ है। प्रकृत शिशुभाव में अन्तर की गहराई से स्वयमेव इस प्रकार का स्फुरण होता है। इसे सिखाना नहीं पड़ता। साधारण लोगों को शिक्षा एवं उपदेश देकर इसकी उपयोगिता बताई जाती है। अर्थात् सम्यक् आन्तरिक पुकार न होने पर भी कृत्रिम अथवा अभिनय के समान "मां" को पुकारने से भी कल्याण होगा। यदि जीव के हृदय में विश्वास नहीं, तव आन्तरिक पुकार कैसे होगी? लेकिन "मां" नाम की महिमा अद्‌भुत है। कृत्रिमभाव से पुकारने पर भी नाम की महिमा अक्षुण्ण रहेगी। विश्वास हो अथवा न हो—अग्नि में हाथ डालने से उसका फल प्रत्यक्ष होगा। इसी प्रकार वर्त्तमान समय में, विशेषतः संकट काल में "मां" ध्वनि का प्रभाव, यथासमय फलदायक होगा। अजामिल ने अन्तकाल में भगवत्भाव अथवा इष्टभाव से नारायण को नहीं पुकारा था। तदापि मृत्यु मुख से उसका उद्धार हुआ। अतः भय, क्रोध, विश्वास, अविश्वास, छल—जैसे चाहे "मां" को पुकारना होगा। सुफल अवश्यंभावी है।

जो प्रलय अदूर भविष्यत् में संभावित है, वह महाप्रलय नहीं। कारण मनुष्य एवं चैतन्य का प्रलय न होने तक प्रकृत महाप्रलय नहीं होता। उस समय विराट अन्धकार अकस्मात उदित हो ग्रसन हेतु आयेगा। "मां" पुकारने से भी आलोक में बोध जागेगा। अर्थात् आत्म चैतन्य का उदय होगा। जो मां को पुकारेगा उसका निजदेह रक्षित रहेगा। लेकिन कालदत्त वृत्ति का क्षय नहीं होगा। वह वृत्ति जैसे पहले थी वैसे ही विद्यमान रहेगी। फिर "मां" उच्चारण से कर्म प्रवृत्त होने की स्पृहा जागेगी। आत्म-चैतन्य का उदय होने पर संधिक्षण समाप्त होगा। तब समस्त क्षण एक क्षण रूप में परिवर्त्तित होंगे। वर्त्तमान में दिन-रात के कारण अर्थात् काल के पर्दे के कारण, क्षण को पहचानना एवं उसकी उपलब्धि असंभव है। समष्टिमन का अवतरण होने पर काल की यवनिका अपसारित होगी। संधिक्षण की उपलब्धि संभव होगी। जो पहले से ही क्षणकर्म में प्रवृत्त हैं, उन्हें संधिक्षण की समाप्ति होने पर और भी सुविधाजनक गति से क्षण का परिचय मिलेगा। एकमात्र क्षण ही कालनाशक कर्म धारण कर सकता है। समष्टिगत काल अपसारित हो जाने पर भी, व्यक्तिगत काल नष्ट करने के लिये क्षण का सहाय्य लेना होगा। कर्मी की

कर्म देह विराट के मुख में है। उस समय कर्महीन मुख के अन्दर (काल मे) गमन करेंगे, लेकिन कर्मांजन काल के मुख से बाहर निकल आयेंगे।

क्षण को प्राप्त करने के लिये कौन सा क्षण प्रशस्त है? इसका उत्तर मात्र जिज्ञासु को दिया जा सकता है, अन्य को नहीं। जिज्ञासु को पद्धति परिचय, एवं कर्म निर्देश देना होगा। सामान्य जन को परिचय देना उचित नहीं। कर्म समष्टि है। व्यष्टि जीव होने से कर्म भी व्यष्टि है। पूर्णकर्म के उद्यापन का दायित्व जीव पर नहीं है। किन्तु खण्ड कर्म हेतु जीव उत्तरदायी है। पुकारने एवं न पुकारने का दायित्व जीव का है। माँ का नहीं। जो माँ को पुकारेंगे, वे ही उस अनन्त सम्पदा का उपभोग एवं आस्वादन कर सकेंगे। किसी नियम की प्रतिबद्धता में जो पुकार होंगी—वह सरल शिशु की पुकार कैसे होगी? अतः प्रतिबद्धता भरी पुकार में वस्तु प्राप्त तो होगी, लेकिन उसका आस्वाद नहीं मिलेगा।

"माँ" के निकट सभी समान हैं। फिर भी समभाव से उनके सम्मुख आना होगा। जो बोध से भी अगम्य है, उसकी उपलब्धि सामुख्य द्वारा संभव है। तब कोई कर्म शेष नहीं रहेगा। जब तक वस्तु प्राप्ति नहीं होती तभी तक कर्म का प्रयोजन है। प्राप्ति के पश्चात् कर्म का क्या प्रयोजन? व्याष्टि मरदेह एक ही प्रकार की नहीं है। अतः किसी भी कौशल से, वस्तु प्राप्त कराने हेतु मनुष्य के सम्मुख विभीषिका अथवा कल्पनातीत आनन्द का प्रादुर्भाव होगा। महायोग के उदय के पहले स्थूलभाव में प्रकाश होगा। कर्म एवं पुकार से देह और मन में विराट अन्धकार या विराट आनन्द आविर्भूत होगा। फिर भी अभिभूत भाव नहीं रहेगा। कर्म विना अन्धकार का आघात असह्य होगा। इसीलिये समय रहते "माँ" को अखण्ड मातृरूप से ग्रहण कर लेना हितकर है।

★

भविष्यत् चित्र

* योगस्थापन एवं अमरत्वसिद्धि

* धरातल में ज्योतिर्मय ज्ञानराज्य की अभिव्यक्ति

* लोक-लोकान्तरों का अनुप्रवेश

* विज्ञानमय जगत का आविर्भाव

* काल का विनाश एवं उसकी उत्तरावस्था

आलोक का कार्य समाप्त हो गया। आलोक की सृष्टि में स्वर्गादि समस्त राज्य एक हो जायेंगे। प्रणव से इस विशाल सृष्टि का उद्भव हुआ है। प्रणव का स्वरूप समग्र सृष्टि में निहित था। आजतक जो कुछ भी लय हुआ है—वह प्रणव में पर्यवसित है। लेकिन अबतक प्रणव भंग नहीं हो सका। प्रणव में व्यष्टिमन विराजित है। प्रणव अबतक अक्षत है, क्योंकि मन-समष्टि रूप नहीं हो सका था। अब विशुद्ध सत्ता द्वारा प्रदर्शित मार्ग से त्रिशक्ति का कार्य पूर्ण हो गया, फलस्वरूप समष्टि मन आविर्भूत हुआ है। यह व्यष्टि मन के साथ युक्त होकर, उसे समष्टि मन रूप में परिणत करेगा। तब प्रणव भंग होगा। विशाल एवं अनन्त आलोक आत्मप्रकाश करेगा। प्रणव का मन व्यष्टिमन है। प्राण समष्टि रूप है। अब मन समष्टि रूप होकर समष्टिप्राण से युक्त होगा। यह अवस्था प्रणवातीत अवस्था होगी।

मन एवं प्राण सम्बन्धमूलक तीन अवस्था विशेष उल्लेख योग्य है—

(i) प्राणसमष्टि—मनव्यष्टि (देवता)

(ii) प्राणव्यष्टि—मनव्यष्टि (मानव)

(iii) प्राणसमष्टि—मनसमष्टि (अखण्ड महायोग)

प्रथम है प्रणव की स्वरूपावस्था। यही महाविराट की स्थिति है। समस्त दिव्यसृष्टि इसी के अन्तर्गत है। देवताओं की देह में मन का योग है। प्राण का योग उनमें नहीं है। इनमें मनोगत व्यक्तित्व स्फुरित होता है। प्राणगत व्यक्तित्व स्फुरित नहीं होता। एक ही विश्वप्राण समस्त देवगण में समभाव से उद्भासमान है। इसीलिये देवगण में जन्म-मृत्यु का अभाव है। यह एक प्रकार की बोधहीन अवस्था है। इस अवस्था में अभी तक बोध का उदय नहीं हुआ।

द्वितीय अवस्था है पृथ्वीस्थ नररूपधारी रक्तमांसमय देहसम्पन्न मानव की अवस्था। इस अवस्था में वोध उदित रहता है। अतः यह बोधयुक्त अवस्था है। जन्म-मृत्यु इस अवस्था के स्वाभाविक धर्म हैं। इस अवस्था में मन एवं प्राण, उभय व्यष्टिरूप हैं। इस स्थिति में व्यष्टिरूप प्राण एवं मन तद्रूप हैं, अतः इसी दशा में अस्थायी रूप से आमित्व का उदय होता है। अस्थायी इसलिये कहता हूँ, क्योंकि (प्राणवायु) तिरोधान के समय अर्थात् बोध द्वारा प्रश्वास छोड़ते समय, मानो व्यष्टिप्राण, समष्टि प्राण से मिलने हेतु प्रधावित होता है किन्तु वह अक्षत प्राण की प्राप्ति नहीं कर पाता। क्योंकि आमित्व सत्ता के साथ व्यष्टि मन का कलंक युक्त है। तृतीय अवस्था है समष्टि मन अभिव्यक्त होने की परवर्ती अवस्था। जिस क्षेत्र में मन समष्टि हुआ है, उसी क्षेत्र में समष्टि मन एवं समष्टि प्राण (महायोग से) युक्त होंगे। महायोगजन्य प्रसूत आलोक, चतुर्दिक विकीर्ण होगा। यह आलोक जगत् विदित् जागतिक आलोक एवं अन्धकार से अतीत है। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, विद्युत अथवा अग्नितेज के साथ इसकी उपमा नहीं दी जा सकती। समष्टि मन में एवं उसके बाहर यह महाप्रकाश अखण्ड भाव से प्रस्फुटित होगा। इस तेज में, प्रकाश में, कोई अन्य वस्तु अथवा पदार्थ नहीं। यह मात्र विशुद्ध प्रकाश है, अत्यन्त स्वच्छ आलोक है। प्रणव मध्य में, इसी की कणिका मात्र धारण कर, कोटि-कोटि ग्रह नक्षत्र ज्योतिर्मय रूप से प्रतिभासमान हो रहे हैं। साक्षात् भाव से प्रस्फुटित इस आलोक में पृथ्वी आकाश, आकाशस्थ अनन्त नक्षत्रपुंज चिरकाल के लिये लुप्त हो जायेंगे। इसकी आभा किंचित रक्तिमा विशिष्ट स्फटिक रूप से प्रतीयमान होगी। प्रत्येक व्यष्टि मन स्व आधार के अनुसार इसी के अंश को धारण करेगा। अभी उर्ध्व में आकाश है एवं नीचे मृत्तिका (धरती)। आकाश का तेज मृत्तिका धारण करती है। इस तेज धारण गुण के कारण मृत्तिका उर्ध्व-शक्ति सम्पन्न है। चन्द्र-सूर्य की किरणों द्वारा प्राक्तन-कर्म फलित होता है। (अर्थात मृत्तिका से समस्त सृष्टि विकसित होती है) जब पूर्ववर्णित महाप्रकाश प्रस्फुटित होगा, तब आकाश, वायु, मृत्तिका, परिदृश्यमान चन्द्र-सूर्य किसी का अस्तित्व नहीं रहेगा। तब समष्टि-मन की काठिन्य शक्ति स्थूल रूप से प्रकट होगी, एवं तरलशक्ति चारो ओर आभारूप से बिखरी रहेगी। तब ज्ञात होगा कि मृत्तिका के स्थान पर एक स्वच्छ दीप्तिमय स्फटिक सन्निभ राज्य, दृष्टि के सम्मुख उद्भासित हुआ है। तब अधः-उर्ध्व का भेद नहीं रहेगा। कोण भी अनुभूत नहीं होगा। किं बहुना—ढकना रूपी आकाश भी दृष्टिगत नहीं होगा।

जब प्रणव भंग होगा—अर्थात् जब विशाल आलोक का द्वार उद्घाटित होगा, तब बोध सम्पन्न मनुष्य अनुभव करेगा। उसे अनुभूत होगा—कैसे प्रणव से इस सृष्टि का उद्भव हुआ था। कैसे इस सृष्टि ने पूर्ण आलोक में स्थान प्राप्त किया।

उस समय स्पष्टतया ज्ञान होगा कि इस महालोक में कोई भी सृष्ट पदार्थ पुनः नहीं लौटे। (अर्थात् अक्षत एवं अखण्ड प्राण को, कोई भी साधक, योगी प्रभृति आजतक प्राप्त नहीं कर सके)। व्यष्टि मन—समष्टि प्राण से युक्त नहीं हो सकता। व्यष्टिमन व्यष्टिप्राण का वियोग करके भी समष्टि प्राण तक नहीं जा सकता। जबतक प्रणव भंग नहीं होगा, तबतक समष्टि प्राण को कैसे प्राप्त किया जायेगा? संक्षेप में प्रणव भेद तो दुर्लभ स्थिति है। व्यष्टिप्राण प्रणव पर्यन्त भी जाने में असमर्थ है। सृष्टि इस पार है, प्रणव का उकार उस पार है। मध्यस्थल में दुरन्त-व्यवधानरूपी नदी बह रही है। प्राण एवं चैतन्य के साधक इसी पार रह जाते हैं। बहुसंख्यक लोग इस व्यवधान को देख नहीं सकते। कोई-कोई भाग्यशाली देख तो पाते हैं, लेकिन देखने के साथ-साथ उसी में लीन हो जाते हैं। इसी का नाम है निर्वाण या ब्रह्मलाभ। उपरोक्त व्यवधान का भेदकर सकने से प्रणव की प्राप्ति अवश्यंभावी है। प्रणव को देहावस्थान काल में प्राप्त कर लेने से, प्रणवातीत महाप्रकाश को, अर्थात् पूर्वोक्त विराट आलोक को, पा लेना संभव है। देह विरहित अवस्था में (देहान्त के पश्चात्) प्रणव में प्रवृष्ट होना संभव नहीं- क्योंकि देहविरहित जीव के लिए विराट आलोक में प्रवेश हेतु मार्ग मिलना दुष्कर है। प्रणव से प्रणवातीत भूमि में जाने का विचार व्यर्थ है। देह में स्थित रहते हुए अन्धकार के मन को, (काल में अन्तर्निहित गुप्त मन को) त्रिशक्ति के कर्म द्वारा उद्घाटित करना होगा। अन्यथा समष्टिमन कभी भी आयत्त नहीं होगा। काल में अन्तर्निहित गुप्त मन निजस्व नहीं हो सका, अतः प्रणव अक्षत है—भंग नहीं हो सका।

समष्टि मन के अवतरणपूर्व, जगतस्थ प्रत्येक पदार्थ के अन्तस्थल से एक आर्तना उत्स्थित होगी। पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता, गुल्म, घर, आकाश, हवा, अर्थात् जिस ओर जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है, प्रत्येक वस्तु के मध्य से एक आर्तध्वनि उठेगी। भूकम्प, विशाल अग्निकाण्ड प्रभृति प्रलयंकर घटनाओं के पूर्व एक शब्द सुनने में आता है। शब्द भावी प्रलय की सूचना देता है। जिस विश्व-व्यापी प्रलय की वार्त्ता कह चुका हूँ, उसके अव्यवहित क्षणपूर्व इस प्रकार का एक शब्द उत्थित होगा। जिन समस्त अणुसमूह की समष्टि द्वारा जगत में विविध संघात् उद्भूत हुये हैं, उनकी शिथिलता एवं कम्पन ही इस शब्दोत्थान का कारण है। इसका कार्य है—कालजनित् सृष्टि का संकोच। इस प्रकार की आर्तना (शब्द) का उत्थान होने पर, एक प्रकार का बोध व्यापकरूपेण जाग्रत होगा। तभी—"माँ" पुकार स्वभावसिद्ध भाव में स्फुरित होगी। शिशुका जन्म होने पर उसके मुख से अव्यक्त भाव में "माँ" ध्वनि प्रकट होती है। बोध का उदय होने पर मनुष्य के मुख से स्वयमेव "माँ" ध्वनि स्फुरित होगी। बोध का उदय ही यथार्थ शिशुभाव है। जगत में

ऐसे आधार (जीव) भी विद्यमान हैं जिनमें तत्काल बोधोदय नहीं होगा, फलस्वरूप "माँ" ध्वनि भी ध्वनित नहीं होगी। बोध के उदय से समष्टि मन का अवतरण होगा। समष्टि मन से निर्गत आभा, समस्त विश्व में फैलेगी। वह आभा उर्ध्व से निर्गत नहीं अपितु वह आभा समष्टि मन से निर्गत होगी। यद्यपि यह आलोक स्निग्ध एवं स्वच्छ है, तथापि उसकी प्रचण्ड शक्ति, कर्महीन एवं (माँ उच्चारणहीन) शिशु भावहीन जीव धारण कर सकने में असमर्थ होंगे। वह सर्वत्र समभाव से प्रसारित होगी तथापि सबके द्वारा धृत नहीं होगी। सूर्य की किरण सर्वत्र समभावेन पड़ती है। तथापि वह स्वच्छ आधार में ही प्रतिबिम्बित होती है। इसी प्रकार यह आलोक सर्वत्र व्याप्त होने पर भी विशिष्ट मन रूप आधार में प्रतिबिम्बित होगा। जो कर्मी हैं एवं जो "माँ" ध्वनि के बल से बली हैं, वे इस आलोक को धारण करेंगे, विचलित नहीं होंगे। उनका मन एवं देह इस आलोक पात के साथ-साथ चैतन्यमय स्वरूप में परिणत होने लगेगा। उन्हें अमरत्व प्राप्ति होगी। अपरदिक्—जिनमें कर्म एवं "माँ" ध्वनि का अभाव है, वे दुर्बल जीव आलोक के आघात को सहन नहीं कर सकेंगे। वे इस आलोक के स्पर्श द्वारा अभिभूत होकर विलीनावस्था प्राप्त करेंगे।

इस विराट सृष्टि में, एकमात्र मनुष्य में मन का अस्तित्व है। अन्य किसी में नहीं। मन के अस्तित्व से मनुष्याकृति प्रणव पदवाच्य है। समस्त सृष्टि मनुष्य से उद्भूत है। जड़ एवं जीव सभी एक ही प्रकार से सम्भूत हैं। इस मनोहीन सृष्टि पर समष्टि मन का आलोक पड़ेगा। मुहूर्तमात्र में मनोहीन सृष्टि का अस्तित्व लुप्त होगा। जिनमें कर्मबल तथा "माँ" ध्वनि का अभाव है, वे मनुष्य मन रहने पर भी, शुद्धजीव एवं जड़पदार्थ के समान, आलोक के आघात से अभिभूत होंगे, अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होंगे। इन सभी मनुष्यों की आत्मा पूर्वकालीन अन्य आत्माओं के समान स्थान लाभ करेगीं, एवं समान गति प्राप्त करेगी।

चन्द्रावतरण होते ही काल का पर्दा अपसारित होगा, किन्तु काल मूलतः परिसमाप्त नहीं होगा। उस समय (चन्द्रराज्य गठन के समय) चन्द्रराज्य को घेर कर, वेष्ठन रूप में, काल अवशिष्ट रहेगा। काल राज्य अपसारित होते होते, अपने साथ अपनी सृष्टि को आत्मसात् कर लेगा। (समस्त दृश्यमान जगत का पंचतत्व इत्यादि—तिरोहित होगा) तत्पश्चात् समष्टिमन के अवतरणवश् प्रत्येक व्यष्टि देह में रक्त के भीतर से बोध जाग्रत होगा। ऐसी स्थिति में व्यष्टि बोध की समाप्ति होगी। प्रत्येक शरीर में बोध का उदय होगा। इस जागरण के प्रभाव से मरदेह भी अमरत्व लाभ करेगा। समष्टि-मन की आंशिक आभा, व्यष्टि मन में विराजित होगी।

उस समय जिस स्थिति का उद्घाटन होगा, उस राज्य का वर्णन "चन्द्र राज्य" संज्ञा से किया जा सकता है। कारण, यह राज्य काल को अपसारित करके प्रकट होगा।

यह है योगराज्य—एक ही स्थलपर कर्मराज्य एवं भोगराज्य उभय संज्ञा से प्रबोधित। इस अभिनव आनन्दमयी सृष्टि का रहस्य सबके लिये बोधगम्य नहीं। शास्त्रों में जिन दिव्य, आनंन्दमय धामों का वर्णन उल्लिखित है, चन्द्रराज्य उसी प्रकार का एक—विराट आनन्दमय साम्राज्य है। इस राज्य में मृत्युधर्मी जीवों का वास नहीं होगा। यह राज्य है—योगी का वासस्थान, एवं कालातीत। यदि इसे भोगस्थान की संज्ञा देता हूँ, तो उचित ही है। तथापि यह स्वर्ग की तरह अभिशप्त भोगभूमि नहीं है। कारण स्वर्ग में कर्म नहीं हो सकता। स्वर्ग से विच्युति होती है। अपरदिक् चन्द्रराज्य कर्म स्थान है एवं विच्युति विहीन भी है। वहां पर तबतक कर्मीजन कर्म कर सकेंगे, जब तक कर्म की परिसमाप्ति न हो। जो भोगी हैं—वे भी तब तक भोग का आस्वाद पा सकेंगे, जब तक उनका भोग पूर्ण न हो। भोग की तृप्ति होने पर, स्वभाव की धारा कर्मश्रोत में मिल सकेगी। यह स्रोत तब तक प्रवहमान रहेगा, जब तक कर्मोद्यापन के पश्चात् विज्ञान का अवतरण नहीं होता। चन्द्रावतरण के साथ-साथ, प्रत्येक व्यष्टि मन के साथ समष्टि मन की आंशिक योग स्थापना होगी। फिर भी प्रत्येक व्यष्टिमन समष्टिरूप नहीं हो सकेगा। इस प्रक्रिया के लिये, समष्टि-रूपता के लिये, कर्म प्रयोजनीय है। समष्टि मन अंशीरूप है, व्यष्टि मन है उसका अंश। समष्टि प्राण की गणना सूर्य रूप से की जाती है। यद्यपि समष्टि मन ने व्यष्टि मन को निजस्व कर लिया है, तथापि साक्षात् भाव से कर्म समाप्ति बिना यह निज-स्वीकरण सम्यक रूप से प्रस्फुटित नहीं होता।

चंन्द्रावतरण के साथ साथ, क्रम प्रणाली से, विभिन्न स्तरों का अवतरण एवं ज्ञान राज्य में प्रवेश घटित होगा। सर्वप्रथम उन आत्माओं का कार्य होगा, जो आलोक अवतरण के समय "मां" ध्वनि अभाववशात् मृत्युमुख में पतित होंगे, एवं विदेहावस्था में स्थित होंगे। इनका कार्य पहले होगा, कारण ये निम्नस्तर में अवस्थित हैं। यदि ये लोग "मां" उच्चारण कर सके तब इन्हे अपनी देह का त्याग नहीं करना पड़ता। वे अपनी अपनी देह में अवस्थान करते एवं उनकी देह चंन्द्र अवतरण के फलस्वरूप अमरत्व प्राप्ति से शोभित होती। लेकिन "मां" पुकार का अभाव रह गया, अतः इन्हें अमरत्व से वंचित रहना पड़ा।

तत्पश्चात् विदेह पितृगणों की आत्मा का अवतरण होगा। यह एक प्रकार से पितृलोक का अवतरण है। जो आत्मा मरदेह त्याग कर, मृत्युपरान्त परलोकगत हो गई थीं, वे अपनी योग्यतानुरूप परलोक में विद्यमान है। (इस समय योगी एवं साधक की बात पृथक् रूप से नहीं कर रहा हूँ)। मरणान्त में साधारण मनुष्य की भी एक विशिष्ठ स्थान में अवस्थिति होती है। ये सब आत्मायें चन्द्रावतरण के पश्चात् पृथ्वी पर अवतीर्ण होंगी। ये सभी देहावस्थान काल में कर्महीन थे। इस समय भी

कर्महीन हैं। इनको कर्मपथ से युक्त करना होगा। इनकी समस्त अतृप्त वासनाओं को जगाकर उसे पूर्णभाव से तृप्त करना होगा। जब भी कोई आत्मा नरलोक से परलोकगत होती है, तब उसकी हृदयस्थित आशा, आकांक्षा एवं कामना अपूर्ण रह जाती है। जब तक ये सब वासनात्मक संस्कार भोगद्वारा तृप्त नहीं होते, तबतक आत्मा स्थूल देह धारण कर कर्मपथ में उत्कर्ष लाभ नहीं करती। अतः ऐसी स्थिति में इन सब आत्माओं का पुनः अवतरण होगा। ये सब आत्मायें विशाल ज्योतिर्मय राज्य के अन्तर्गत निर्दिष्ट मण्डल में स्थान प्राप्त करेगी। जिन कर्मीजन का देह ("माँ" उच्चारण की योग्यतावशात्) अमरत्व प्राप्त करेगा, वे एक-एक मण्डल के, या खण्डराज्य के अधीश्वर बनकर विराजित होंगे। उनके परिजनवर्ग उस-उस मण्डल में मण्डलेश्वर के अधीनस्थ होकर निवास करेंगे। पितृकुल, मातृकुल, एवं श्वशुरकुल में से प्रत्येक के सत्रह पूर्व पुरुष पर्यन्त, इस मण्डल में निवास करेंगे। अधोवर्त्ती आत्मायें भी, यथा सम्भव इस संख्या में परिगणित होंगी। कर्मी पुरुष को इन सब आत्माओं का भार ग्रहण करना होगा। जब परलोकगत आत्माये भूपृष्ठ पर अवतीर्ण होंगी, तब वे अपने अपने निर्दिष्ट-मण्डल में स्थित होकर, अपने-अपने प्राक्तन संस्कारानुसार, इच्छा उन्मेष के साथ साथ, भोग्य वस्तु की प्राप्ति करेंगे। इच्छानुकूल भोग्य वस्तु का आविर्भाव उनकी स्वशक्ति द्वारा नहीं होगा। वह होगा उपरोक्त कर्मी पुरुष (मण्डलेश्वर) की शक्ति द्वारा। कारण अधिष्ठाता पुरुष कर्मशील हैं परन्तु ये सब आत्मायें कर्मी नहीं हैं। लेकिन उन आत्माओं को यह उपलब्धि नही होगी कि समस्त इच्छानुरुप भोग प्राप्ति उपरोक्त कर्मी (मण्डलेश्वर) की शक्ति से हो रही है। वे मात्र यह उपलब्धि कर सकेंगे कि इच्छा होते ही तद्रूप भोग्यवस्तु प्राप्त हो रही है। वे स्वयं को "आप्तकाम" मानेंगे। अतः यह चन्द्रराज्य सभी को प्राथमिकतः भोगभूमि रूप से प्रतीत होगा। देह में रक्त संचार हो जाने से एवं स्थूलदेह का आविर्भाव होने से, (इनमें उपभोग के पश्चात्) तृप्ति का उदय होगा। कर्म-पथ-संचरण हेतु प्रेरणा जाग्रत होगी। तब इन्हे "मां" उच्चारण की शिक्षा देनी होगी। तभी क्रमानुसार कर्मपथोन्नति की प्राप्ति होगी। जिन कर्मीपुरुषगण का वर्णन मण्डलेश्वर अथवा अधिष्ठाता रूप से किया गया है, वे मण्डलस्थ, समस्त आत्माओं के गुरुस्थानीय हैं। (वस्तुतः गुरु-शिष्य संज्ञा से अभिहित होने योग्य कुछ भी नहीं रहेगा।) कर्म करते करते ये सब आत्माये, अधिष्ठाता कर्मी पुरुष के समान योग्यता प्राप्त करेंगे। तत्पश्चात् समान योग्यता एवं अधिकार सम्पन्न होकर महाकर्म पथ पर अग्रसर हो, समान रूप से समष्टि मन का सान्निध्य प्राप्त करेंगे। इस महान् विश्वकर्म का उद्देश्य है "पूर्ण विज्ञान का अवतरण एवं सूर्य का अवतरण"। उपरोक्त सभी कर्म इस एक महाउद्देश्य द्वारा अनुप्राणित हैं।

जिन आत्माओं ने अपने-अपने इष्टदेवता के साथ सालोक्य, सारुप्य, सामीप्य या सायुज्य प्राप्त किया है, उनका अवतरण भी पितृलोक के अवतरणानुरूप होगा। सालोक्यादि तो अलग स्थिति है। सायुज्य अवस्था में भी, किसी आत्मा ने उपास्य देवता के साथ सर्वथा अभिन्नत्व की प्राप्ति नहीं की है। ये सब आत्मायें मनुष्य हैं। कारण नरदेह प्राप्ति करके तत्पश्चात् देह त्याग कर तत्वत् देव-स्थान या देवभाव की प्राप्ति की है। अतः अपने-अपने इष्टदेवता के साथ युक्त होने पर भी, उसके भाव से युक्तता होने पर भी, मनुष्य-मनुष्य ही रह जाता है। देवता नहीं होता। अतः मनुष्यत्वाकर्षण प्रभाववश समस्त दिव्य आत्मायें अपने देवभाव का त्याग कर, पुनः पृथ्वी पर अवतीर्ण होगी। तब मनुष्यत्व प्राप्ति का पथ उन्मुक्त होगा। वे मनुष्याकृति पाकर भी मनुष्यत्व प्राप्ति से वंचित थे। अतः छाया के पीछे धावमान मुग्ध बालक के समान दिव्य भाव का अनुसरण करने की चेष्टा से व्यामोहित थे। ये सब आत्मसमूह अवतीर्ण होकर, पूर्ववर्णित उपाय द्वारा अपनी अतृप्त वासना की पूर्ति करेंगे।

कह आया हूँ—चन्द्रावतरण के पश्चात् सूर्य का अवतरण होगा। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रावतरण पर भी कुछ अभाव शेष रहेगा, जो सूर्यावतरण पर पूर्ण होगा। तब किसी भी अभाव का अवशेष नहीं रहेगा।

चन्द्रअवतरण के साथ-साथ यह जड़ जगत् ज्योति द्वारा आच्छन्न होगा। समग्र पृथ्वी अनन्तरूपा होकर स्वच्छज्योतिर्मय महामण्डल रूप से प्रकाशित होगी। असंख्य पृथक् मण्डल, समष्टिरूपेण एक महामण्डल रूप दृष्टिगोचर होगा। प्रत्येक मण्डल है खण्डराज्य एवं खण्डमण्डल समष्टि—महामण्डल है एक विराट् साम्राज्य स्वरूप। एक-एक खण्ड राज्य—एक-एक मण्डलेश्वर द्वारा अधिकृत होगा। इन्हें मण्डल का राजा, अन्तरात्मा अथवा शासनकर्ता कह सकते हैं। जिन कर्मीजन की देह "माँ" उच्चारण के फलस्वरूप अमरत्व प्राप्त करेगी, वे इस मण्डल के (खण्डराज्य के) राजा रूप से नवीन सृष्टि में स्थान प्राप्त करेंगे। उनके परिजनवर्ग (मरदेह के सम्बन्धीजन, जो मरने के पश्चात् लोक-लोकान्तरों में स्थित हैं, पुनः अवतरित होकर साथ में निवास करेंगे। अर्थात् पूर्वपुरुषगण या पितृगण अपने इस कर्मी वंशधर की महासुकृति का फल भोग करने, उसके राज्य में आनन्द लाभ करने हेतु पुनः अवतरित होंगे।

मृत्यु के पश्चात् परमाणुरूपी आत्मा मरदेह से विच्छिन्न हो जाती है। कोई भी आजतक कालराज्य का भेद करने में समर्थ नहीं। जन्मान्तर सिद्धान्त अखण्ड महायोग में चरम तत्त्वरूप में स्वीकृत नहीं होता। प्रचलित धर्मग्रन्थों में जन्मान्तर प्रसंग वर्णित है। वह वस्तुतः समस्त अणु-समूह की अवस्था भेद निबन्धन से कल्पित

है। आत्मा का जन्मान्तर नहीं होता। अर्थात् जो अक्षत् परमाणु एक बार मातृगर्भ में आकर क्षत होता है, वह मृत्यु के पश्चात् पुनः मातृगर्भ में प्रविष्ट नहीं होता। प्रत्येक बार अक्षत परमाणु का मातृगर्भ में आगमन होता है। परमाणु एवं अणु का संयोग जीवन है। इनके वियोग का नामान्तर है मृत्यु। मृत्यु के पश्चात् परमाणु चला जाता है। परमाणु नित्य है। अतः मृत्युकालीन भाव उसके अन्तर्गत अपरिवर्तनीय रुप से स्थित रह जाता है। अर्थात् अन्तिम श्वास वृत्ति के समय, मनुष्य का जो भाव रहता है, आत्मा उस भाव रुप में देह से बहिर्गत होती है। इसका नामान्तर है 'नित्यभाव'। इसके साथ अन्य कोई भाव मिश्रित नहीं हो पाते। अन्य भाव उदित होने की सम्भावना नहीं रहती। आत्मा के साथ देह एवं मन का योग नहीं रहता। अतः भाव का उदय कैसे होगा? इसी कारण मृत्यु के पश्चात् आत्मा में अभिनव भाव की सम्भावना कैसे होगी? आत्मा विदेह है, लौकिक भाव से मुक्त है, तथापि उसका एक स्वाभाविक आकार है। उसके साथ भावरुप प्रकृति नित्ययुक्त है। सृष्टि काल से यह व्यवस्था चली आ रही है। इन समस्त आत्माओं को मुक्त कहना उचित नहीं। जबतक वासनारुप प्रकृति की तृप्ति से पूर्ण होकर आत्मा मुक्ति लाभ नहीं करेगी (वासना के आक्रमण से मुक्त नहीं होगी) तबतक उसे प्रकृतमुक्त आत्मा कहना असंगत है।

वासना या प्रकृति से मुक्ति कैसे सम्भव है? पिपासा दूर करने हेतु जल आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मा से वासना रुप अभाव को दूर करने के लिये भोग्य वस्तु द्वारा भोग पूर्ण करना होगा। तभी आत्मा भोगभूमि से उत्थित होकर निजस्वरुप में स्थिति प्राप्त करेगी। निग्रह द्वारा वासनामुक्ति असम्भव है। लौकिक जगत में संयम एवं त्याग आवश्यक प्रतीत होता है।

संयम एवं त्याग द्वारा तृप्तिमूलक परम शान्तभाव के पथ का प्रदर्शन नहीं होगा। ज्ञान द्वारा भोग निवृत्ति, ज्ञान आयत्त होने के पश्चात् संभव है। शास्त्रज्ञान अथवा लौकिक ज्ञान द्वारा यह कार्य संभव नहीं। मात्र निरोध हो सकता है। निरुद्ध अवस्था स्थायी नहीं होती। चन्द्रावतरण के पश्चात् जो आत्मायें उर्ध्वलोक से अवतीर्ण हो प्रकाशित होंगी, वे सब मरदेह के आनुकूल्यवशात् भोग द्वारा अपने चिरन्तन अभाव को दूर करने में समर्थ होंगी। अबतक काल की प्रबलता थी, इसी कारण उनके मरणकाल में जो अंतिम भाव था वहीं स्थायीभाव हो गया था। अब काल शैथिल्य के साथ-साथ वह स्थायी भाव क्रियाशील होगा। अर्थात् वह स्थायीभाव, अपने अभाव को दूर करने के लिए जाग्रत होगा एवं भोगवस्तु प्राप्ति की आकांक्षा का उदय होगा। आकांक्षा का उदय होते ही आकांक्ष्य भोग्यवस्तु का उदय होगा। आत्मा उसका आस्वादन कर परमानन्द की प्राप्ति करेगी। वास्तव में आकांक्षा का उदय होते ही उस

मण्डल के अधिष्ठाता अमरदेह प्राप्त कर्मी अपनी इच्छाशक्ति द्वारा सकल भोग्य पदार्थ प्रस्तुत करेंगे। अनुगत आत्मा को इस प्रस्तुति करण का रहस्य ज्ञात नहीं होगा। प्रत्येक मण्डल के अधीश्वर गुप्तरूप से, स्वयं प्रच्छन्न रहकर, स्वमण्डलस्थ प्रजावर्ग के लिये (अपने परिजनों के लिए) इस तृप्ति रूप कर्म को करेंगे। भोग द्वारा अतृप्त भोगाकांक्षा की तृप्ति होगी। इसी के साथ रक्तसंचार क्रिया द्वारा कर्म योग्यता विकसित होगी।

वैष्णवभक्त एवं रसिकगण द्वारा वर्णित व्रजलीला में पृथक्-पृथक् कुंजों की स्थिति स्वीकृत है। इस महालीला में उसी प्रकार एक-एक राज्य की कल्पना की गई है। जिस प्रकार (व्रजलीला में) अनन्त कुंज समष्टि के मध्य, विन्दुरूपी निकुंज अवस्थित है, वैसे ही अनन्त मण्डलों का समष्टिभूत महामण्डल केन्द्र में स्थित है। यही केन्द्र है—अखण्ड महायोग का केन्द्रविन्दु। क्रमशः परिजन वर्ग के साथ मण्डलेश्वर का मिलन होगा। परिजनवर्ग भी मण्डलेश्वर के अङ्गरूप से उन्नत होंगे। तब केन्द्र एवं वाह्यसत्ता का समन्वय होगा। परिजनवर्ग अपने मूल पुरुष (अधिष्ठाता) की सत्ता से सन्तान्वित होंगे। वे तत्काल मूल पुरुष की योग्यता से सम्पन्न नहीं हो सकेंगे। वरन् आनन्द का फलभोग मूल पुरुष के साथ समान भाव से करेंगे। [वस्तुतः इसी को "भोगमात्रसाम्यलिंग" संज्ञा से वेदान्त दर्शन ने संबोधित किया है] परिजनवर्ग चिन्मयशरीर सम्पन्न हो द्रष्टारूप से अवस्थान करेंगे। वे मूल पुरुष को देखेंगे। तथापि उन्हें भान नहीं होगा कि यही हैं उनके उपास्य या ईश्वर। रक्तमय देह सम्पन्न होने के कारण "माँ" उच्चारण का क्रम उनके द्वारा चलता रहेगा। इस अभिनव सृष्टि में चाहे जो कुछ भी हो, सबको एक लयताल से चलना होगा। यह उच्चारण तब तक चलेगा जबतक पूर्णरूप से माँ का सन्धान नहीं मिलता, अर्थात् विज्ञान का अवतरण नहीं होता।

तत्पश्चात् देवगण अवतीर्ण होंगे। जब तक समस्त आत्मसमूह मनुष्यत्व की प्राप्ति नहीं करेंगे, तबतक देवगण जाग्रत नहीं होंगे। सब आत्माओं को सम्यक मनुष्यत्व प्राप्त कर अभिज्ञाता प्राप्त करनी होगी कि "प्राण पूर्णरूपेण आयत्त हो गया"। प्राण निजस्व हुये विना विशुद्ध देवसत्ता कैसे आयेगी ? आत्मा सृष्टि मुख में परमाणुरूप से प्राण से ही उद्भूत है। अतः सब आत्माओं द्वारा मनुष्यत्व प्राप्ति के पश्चात् ही प्राण का आयत्तीकरण संभव होगा। देवताओं में मन है। उनमें प्राण का अभाव है। उनका प्राण समष्टि प्राण है। अतः देवताओं में विशेषरूप से प्राण की क्रिया नहीं होती। समस्त आत्मसमूह द्वारा मनुष्यत्व प्राप्ति के पश्चात् प्राण की क्रिया प्रारम्भ होगी। उस समय देवताओं की मृत्यु होगी। इसका तात्पर्य है कि अबतक वे बोध शून्य थे, अब वे बोध सम्पन्न होंगे। उनका देहनाश नहीं होगा। मात्र एक अभाव की आर्ति उठेगी। यही है देवगण का बोधोदय। बोधोदय के साथ, उनमें रक्त का उदय

होगा। तव समस्त देवगण मनुष्योचित कर्म में प्रवृत्त होंगे ।समस्त जगत् कर्ममय है। यह है एक विशाल कर्मक्षेत्र। यहाँ कर्महीन रह सकना असंभव है। जो अवतक निष्क्रिय सत्तारूप से विद्यमान थे, वे अव कर्मशील होंगे। कर्मशील एवं "माँ" उच्चारणधारी मनुष्य की प्रेरणा से देवगण साधन प्रवृत्त होंगे। रक्तलाभ के साथ-साथ उनके शरीर में "माँ" ध्वनि स्वाभाविक रूप से निर्गत होगी। वे पूर्वापर अभिज्ञाता से शून्य रहेंगे। यह उनका नूतन जन्म होगा।

देवगण के पश्चात् काय–सिद्धों का अवतरण होगा। देवगण द्वारा कायसिद्धगणों की आराधना होगी। इससे उनके शरीर में रक्त संचार होगा। समस्त कायसिद्धों की देह रक्तहीन देह है। उनमें न आत्मा है—न मन का ही अस्तित्व है। उनकी आत्मा देवलोक में अलग पड़ी है। मन मरलोक में स्थित है। उन्होंने अपनी शुद्ध काया को रसहीन कर मृत्यु का अतिक्रमण किया है। जिस देह में रस नहीं, वह देह काल के क्रोड़ में पतित नहीं होती। कायसिद्धगण रक्त संचार प्राप्त कर "माँ" उच्चारण प्रारंभ करेंगे।

जब कायसिद्धगण जाग्रत होकर माँ को पुकारना प्रारंभ करेंगे तव इस महाध्वनि से कालरूपी अन्धकार में स्पन्दन प्रादुर्भूत होगा। तब अन्धकार भी "माँ" को पुकारना प्रारंभ करेगा। अन्धकार की साधना या क्रिया के पश्चात् "म" की साधना का प्रारंभ होगा। इन सब की क्रिया के फलस्वरूप जब "म" क्रिया में प्रवृत्त होगा, तब यह अनुभव होगा कि "माँ" क्या हैं। उस समय इस अभिज्ञता का उदय होगा– "अब क्या करणीय शेष है।" इससे पूर्व यह अभिज्ञता नहीं होती।

"म" आदि श्रष्टा है। उसकी साधना का विषय है सूर्य–अर्थात् महाप्राण अथवा विराट चैतन्य। सूर्यावतरण के पश्चात् विज्ञान का अवतरण होगा। "म" के आह्वान से क्षण विचलित होगा, तत्पश्चात् सूर्यावतरण होगा। इसके पश्चात् विज्ञान का आविर्भाव होगा। विज्ञानावतरण के पश्चात् क्षण के सम्बन्ध में जिज्ञासा जाग्रत होगी। चैतन्य की जिज्ञासा नहीं जाग्रत होगी। विज्ञानावतरण के पूर्व, किसी न किसी रूप में, कालसत्ता अवशिष्ट रहती है। विज्ञानावतरण के पश्चात् काल का अस्तित्व नहीं रहता।

ज्ञानराज्य स्वभाव का राज्य है।। यह स्वातंत्र्यभूमि है।

यह कामना का जगत नहीं। वहाँ कामसृष्टि का अस्तित्व नहीं होगा। इच्छासृष्टि का अस्तित्व रहेगा। विज्ञानराज्य, इच्छाशक्ति से अतीत है। वहाँ जो सृष्टि रहेगी—वह है विज्ञान की सृष्टि। यह सृष्टि कालातीत एवं अविनाशी है। विज्ञानरूपी मनुष्य की सृष्टि होगी। सृष्टि एवं स्थिति का अस्तित्व रहेगा। संहार का लेशमात्र अस्तित्व नहीं रहेगा।

इस अभिनव सृष्टि में अमरदेही मनुष्य का सर्वोपरि स्थान होगा।

★

उपसंहार

❋ आलोचित विषय का सार संग्रह ❋

मैंने संक्षेप में अखण्ड महायोग अथवा सूर्यविज्ञान के सम्बन्ध में किंचित आलोचना की है। समय एवं स्थानाभाव वशतः इस जटिल विषय की प्रयोजनानुरुप विस्तृत आलोचना इस ग्रन्थ में सम्भव नहीं हो सकी। ग्रन्थ में प्रतिपाद्य विषय सर्वथा नूतन है। इसकी प्रतिपादन प्रणाली भी अभिनव है। सुपरिचित् एवं परिचित चिन्तनधारा से यह विषय अनेकांश में पृथक् है। प्रचलित भाषा की सहायता से यथाशक्ति इस गम्भीर सत्य का विश्लेषण करते हुये, ग्रन्थ रचना का उद्देश्य स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। इच्छानुरुप, परिस्फुट, विशद् एवं तुलनात्मक प्रणाली का अवलम्बन लेकर वर्णन करने से विषय स्पष्ट होता है। यही नहीं, किसी-किसी स्थान पर अस्पष्टता, प्रमाद एवं स्खलन भी सम्भव हो जाता है। जिस प्रणाली से इस महासत्य की उपलब्धि की गई, उसे जनसाधारण के समक्ष उपस्थित करने में अस्पष्टता-त्रुटि, ये दो दोष न्यूनाधिक परिमाण में अपरिहार्य हैं। शीघ्रता से इस ग्रन्थ का प्रकाशन करना पड़ा अतः सभी विषयों की पूर्णांग आलोचना करने का समय एवं सुयोग प्राप्त नहीं हुआ।

फिर भी ग्रन्थ में मूल तत्व एवं प्रकाशन उद्देश्य से सम्बन्धित किसी प्रकार की अस्पष्टता नहीं है। चिन्तनशील पाठक इसका सहज अनुध्यान करने में समर्थ होंगे।

ग्रन्थ का प्रधान वक्तव्य है "मनुष्य को मनुष्यत्व प्राप्त करना होगा। मनुष्य आकृति से मनुष्य होने पर भी प्रकृत मनुष्य नहीं है। अतः उसे वास्तविक मनुष्य बनना होगा।

वास्तविक मनुष्य बनने से करणीय कर्म की उपलब्धि स्वतः होगी। वह उपलब्धि कर सकेगा। क्योंकि वास्तविक मनुष्य बनते ही बोध का उदय होगा। बोधोदय के साथ-साथ विशुद्ध कर्म का संकेत पाकर कर्मप्रवृत्त होगा। जबतक मनुष्य जीवन का उत्कर्षपथ अवरुद्ध करने वाले प्रतिबन्धकरुप अन्तराय अपसारित नहीं होंगे, तबतक वास्तविक कर्मपथ पर अग्रसर होकर पूर्णत्व प्राप्ति की आशा व्यर्थ है। ये सब अन्तराय मनुष्य के शत्रुरुप हैं। कालराज्य में इन मनुष्यों से परिवेष्ठित होकर मनुष्य की स्थिति है। जिस प्रकार अशोक वन में जनकनन्दिनी सीता राक्षसियों द्वारा वेष्ठित थीं, उसी प्रकार जीव कालराज्य में क्षुधा, तृष्णा, वासना, कामना, जरा, मृत्यु,

प्रभृति दुःखप्रद भावों द्वारा जर्जर होकर निवास करता है। मनुष्यत्व अवतरण के साथ-साथ ये सब विरुद्ध भाव चिरकाल के लिये समाप्त होंगे। वास्तव में मनुष्यत्व का अवतरण, ज्ञानावतरण रुप से परिगणित है। अतः ज्ञान अवतीर्ण होते ही अज्ञानमय जगत् के समस्त अन्तराय दूर होंगे। यह ज्ञान प्रकृतज्ञान है। इसके अवतरण से बोध-हीन मनुष्य, मनुष्यत्वरुप बोध प्राप्त करेगा। तभी ज्ञानधारण में समर्थ होगा।

कर्म बिना ज्ञान का उदय सम्भव नहीं। (यह समष्टि ज्ञान के सम्बन्ध में कहा जा रहा है।) इसका मूल है पूर्णभाव से अनुष्ठित समष्टि कर्म। पहले कह चुका हूँ, समष्टि कर्म यथाविधि पूर्ण हो चुका है। तथा समष्टि मन का आविर्भाव हो चुका है। अतएव समष्टि मन का बाह्याच्छादन (पर्दा) हटते ही इस समष्टि ज्ञान (महाज्ञान) का आलोक चतुर्दिक छिटक उठेगा। किसने इस महाज्ञान का संग्रह किया है? जनसामान्य इसे न जाने तो भी कोई क्षति नहीं। ज्ञान का उदय होते ही प्रत्येक व्यक्ति इस रहस्य को जान लेगा, तब संशय के लिये कोई अवकाश स्थान नहीं रहेगा। अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ही यह रहस्य उद्घाटित हो सकेगा। कहाँ से इस ज्ञान का उदय हुआ? यह न जानकर, वह चेष्टा करनी चाहिये जिससे ज्ञानावतरण काल में महाज्ञान धारण की योग्यता हो सके। जिस प्रकार महान् कर्म से इस महा-ज्ञान का उद्भव हुआ है, उसी प्रकार महाज्ञान धारण योग्यता हेतु किंचित कर्म अपेक्षित है। ज्ञानावतरण के मूल में महाकृपा कारण है। महाकृपा को धारण करने के लिये पुरुषाकार आवश्यक है। मुक्त आकाश में सूर्योदय के साथ-साथ स्वाभाविक रुप से, उसकी प्रभा चतुर्दिक विकीर्ण होती है, किन्तु चक्षु बन्द रखने से अथवा आलोक के सम्मुख न रहने से, कोई भी उससे युक्त नहीं हो सकता।

इसीलिये सामर्थ अनुरुप कर्म द्वारा मनुष्यत्व के आलोक को निजस्व करना होगा। कर्म और कुछ नहीं, मात्र "माँ" को पुकारना है। अब कठोर कर्मसाधना का समय अवशिष्ट नहीं। अथच कर्म के अतिरिक्त उस अपूर्व वस्तु की प्राप्ति असम्भव है। इसीलिये महाकरुणारुपिणी अखण्ड माँ ने निर्देश किया है कि सन्तान अन्ततः एक बार भी "माँ" ध्वनि द्वारा उसे पुकारे। यही है मनुष्य के लिये आलोक प्राप्ति हेतु करणीय कर्म। माँ को पुकारना, एवं उनका चिन्तन करना एक ही बात है। जो जिसकी चिन्ता करता है वह क्षणमात्र के लिये तद्रुप हो जाता है। अतः "माँ" ध्वनि के साथ-साथ मातृभाव भी उचित कर्म है। "माँ" उच्चारण के साथ-साथ मातृभाव का उदय होता है। मात्रा चाहे जितनी भी कम हो तथापि यह अमरत्व का आश्रयदाता कर्म है। मातृभावापन्न सन्तान ही महाप्रकाश को धारण करने में समर्थ है। वह महाप्रकाश अथवा महाज्ञान का आलोक माँ की अंगकांति है। आधार चाहे कितना भी दुर्लभ क्यों न हो, इस कर्म द्वारा महाप्रकाश के आघात

को सहन कर सकेगा। उसे अपनी शक्ति के अनुसार धारण कर सकेगा। सबका कर्म एक प्रकार का नहीं है, कारण आधार बल भी सर्वत्र समान नहीं। यद्यपि समस्त कर्मशील व्यक्ति महाभय रुप काल से त्राण प्राप्त कर अमरत्व लाभ करेंगे, तथापि सभी का समान उत्कर्ष नहीं होगा। मनुष्यत्व के अवतरण एवं मनुष्यत्व धारण के फल से प्रत्येक आत्मा मरदेह सम्पन्न होगी। लेकिन किसी आधार में मनुष्यत्व की अभिव्यक्ति अल्पांश में होगी तो किसी में अधिक परिमाण में। योग्यता तारतम्य से मनुष्यत्व अंश में भी तारतम्य होगा। सर्वत्र मनुष्यत्व का अवतरण होगा अतः "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुति वाक्यानुरुप अवस्था के उदय का सूत्रपात होगा।

अखण्ड मां वस्तुतः कालनाशिनी है। देव, देवी, सिद्ध, ऋषि, ईश्वर, परमेश्वर—कोई भी काल का नाश करने में समर्थ नहीं। वस्तुतः ईश्वर, परमेश्वर प्रभृति ज्योति स्वरूप हैं, इनका भास्वर-स्वरूप भी कालरूपी अन्धकार निवृत्त कर सकने में समर्थ नहीं। पूर्वकाल में काल जितना व्यापक प्रभावशाली था, उतना अब भी है। जन्म-मृत्यु की धारा में लेशमात्र परिवर्त्तन नहीं हुआ।

पूर्णकर्म के अभाव में कालभेद होना दुष्कर है, काल का संकोच असंभव है। रक्तमांस सम्पन्न जीवन्त नरदेह द्वारा पूर्णकर्म सम्पन्न हो सकता है। इसी कारण निष्क्रिय चिन्मय देहधारी देवगण, कालभेद अथवा कालनाश कर सकने में समर्थ नहीं। (कारण उनकी देह रक्तहीन है अतः कर्म के लिये अनुपयोगी है)। कालनाश के लिये कालजनित, कालसम्भूत नरदेह अभीप्सित है। एकमात्र मरदेहधारी मनुष्य काल लंघन का सामर्थ्य प्राप्त करता है। एक के कर्मद्वारा विश्वव्यापी काल का विनाश कैसे होगा? जो पूर्ण कर्मी हैं, वे मन को समष्टि भाव से निजस्व करने में समर्थ होते हैं। वे समष्टि मन से युक्त हो, महाज्ञान के आलोक द्वारा काल को चिरकाल के लिये अपसारित करेंगे हैं। जो स्थिति अब तक कालाधीन थी, वह महायोगी के अधिकार क्षेत्र में आयेगी। काल का प्रभुत्व अस्तमित होगा। काल विषदन्तहीन सर्प के समान, अपने समस्त ऐश्वर्य के साथ, महाज्ञान क्षेत्र के बाहर, मनोमय राज्य की सीमारेखा रूप में अवस्थान करेगा। तब भी काल का विनाश नहीं होगा, यद्यपि उसका प्रभाव समाप्त प्रायः रहेगा। काल निवृत्ति का एक मात्र उपाय है—मनुष्य द्वारा पूर्ण कर्म का अनुष्ठान। अमर राज्य की स्थापना के बाद भी काल अवस्थित रहेगा। वह उक्त अमर राज्य की परिधि रूप से स्थित रहेगा। मनुष्यत्व प्राप्त प्रत्येक कर्मीजन को बोध की प्राप्ति होगी। तत्पश्चात वे अपने स्वकार्य को पूर्ण करने में समर्थ होंगे। ऐसी स्थिति में, कालनाशक कर्म की गरिमा वृद्धिगत होगी। इतने पर भी कालध्वंसोपयोगी कर्म आयत्त नहीं होगा। अतः अमरत्व प्राप्ति के पश्चात् (मनुष्यत्व प्राप्ति के पश्चात्) कर्मी मनुष्य का प्रधान कर्त्तव्य होगा उर्ध्वलोकस्थ आत्माओं का आकर्षण करना, उन्हे

रक्तमांसमय देहदान, मनुष्यत्व का संचार एवं कर्मपथ में प्रवृत्त करना। ये समस्त आत्मायें अवतक कर्महीन भाव से विद्यमान थीं। रक्तमांसमय मनुष्यदेह विना कर्म सम्पादन असंभव है। उपरोक्त सभी आत्माओं में, कर्मी मनुष्य के प्रभाव से, इच्छा का उदय होगा एवं मन विकसित होगा। मन विकसित होने के पश्चात् इच्छा के उदय से सूक्ष्म चिन्मय देहधारी आत्माओं में क्रमशः रक्त का संचार होगा और क्रमशः देह रक्तमांसमय स्थूल देह रूप में परिणत होगी। यही है मनुष्यत्व का संचार अथवा पूर्व वर्णित निजस्व मन का आंशिक विकास। मनुष्यत्व के साथ बोध का उदय होने पर, ये सव आत्म समूह, पूर्ववर्णित कर्मार्जन के समान अपने अपने कर्म में प्रवृत्त होंगे। वह कर्म है "मां" की पुकार। समस्त कर्म इसी के अन्तर्गत हैं। देवता, ईश्वर प्रभृति का अवतरण, मनुष्यत्वलाभ एवं कर्म की अभिव्यक्ति का यही रूप है। वह विशाल राज्य मनुष्य द्वारा पूर्ण होगा। मनुष्य भिन्न अन्य चेतन सत्ता का अस्तित्व नहीं रहेगा। प्रत्येक मनुष्य का कर्म पूर्णता प्राप्त करेगा। तव एक परिपूर्ण अवस्था उदित होगी। सूर्य का अवतरण, तदनन्तर विज्ञान का अवतरण, परिपूर्णता का पूर्वाभास है। वास्तव में तभी "मां" पुकाररूपी कर्म का अवसान होगा। प्रत्येक मनुष्य का कर्म पूर्ण होनेपर उस महासमष्टि कर्म के गुरुत्व एवं प्रभाव से प्राणरूपी सूर्य का उदय होगा। फलस्वरूप ज्ञानराज्य की परिणति विज्ञान राज्य के रूप में होगी। विज्ञान का उदय होने पर काल का सम्यक् अवसान होगा। तब काल की स्थिति नहीं रहेगी। परन्तु समष्टि मन (अर्थात् महाविज्ञान) विज्ञानराज्य की सीमारेखा रूप में स्थित रहेगा। यह प्रकृत (वास्तविक) अद्वैत अवस्था है। एक की मुक्ति को सर्व-मुक्ति रूप में स्वीकृत करने की स्थिति में, यह अवस्था उसका निदर्शन है। समष्टि कर्म व्यतीत इस महाविज्ञान का उदय नहीं होगा। भूलोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त, यहाँ तक की उससे भी उर्ध्व स्थित समस्त चेतन सत्ता द्वारा, मनुष्यत्व प्राप्ति, (अर्थात् निजस्वमन प्राप्ति), रक्तमांसमय देहलाभ, एवं मनुष्योचित कर्मसम्पादन (अर्थात् अखण्ड मां को पुकारना) किये विना विज्ञान का अवतरण संभव नहीं। विज्ञान जगत् में कोई छोटा वड़ा नहीं रहेगा। जीव एवं ईश्वर का भेद समाप्त होगा। जिस प्रकार नरदेहधारी जीवगण, मनुष्यत्व प्राप्त करेंगे, उसी प्रकार चिन्मय देहधारी देवगण भी मनुष्यत्व लाभ करेंगे। विज्ञानालोक में सभी शिशुवत् प्रतीत होंगे। ब्रह्मा-विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव देवता, गंधर्व, अप्सरा, किन्नर, पितृगण, देवगण, ऋषिगण, सिद्ध-मण्डली, साधारण जीवगण—सभी इस महाविज्ञानमय जगत् में अखण्ड मां की संतान रूप से विराजित होंगे। मनुष्यत्व के प्रभाव से कर्म की पूर्णता ही विज्ञानमय स्वरूप में अवस्थित है। महाप्राण के साथ महामन का मिलन होकर कालावसान वशतः अखण्ड महाकाय का योग सुप्रतिष्ठ होगा। प्राण, मन, और काया का वैषम्य तिरोहित होगा।

इनका परस्पर भेद अस्तमित होगा, फिर भी अखण्ड अभेद के मध्य अनन्त वैचित्र्य प्रकाशित रहेगा।

उर्ध्वलोक में विशुद्ध सत्ता का आविर्भाव होने के पश्चात् एक विशिष्ट नरदेह (विशुद्धानन्द) का आश्रय लेकर आंशिक भाव से अवतरण, तत्पश्चात् व्यष्टि मन द्वारा समष्टि भाव साधन हेतु त्रिविधशक्ति जनित त्रिविध कर्म का सम्पादन, क्षण धारण एवं महाशक्ति मां की सेवा ही मनुष्यत्व के अवतरण का मूल है। मनुष्यत्व का अवतरण एवं धरातल में ज्ञान राज्य की प्रतिष्ठा होने के पश्चात् जब प्रत्येक आधार में बोध का उदय होकर स्वभाव के कर्म का श्रीगणेश होगा, तभी साक्षात् रूप में विशुद्धसत्ता का उद्देश्य एवं उत्तरदायित्व पूर्ण होगा। उर्ध्वलोक में, ज्ञान का राज्य विशुद्ध सत्ता से उद्‌भूत है। विशुद्ध सत्ता से ही भूतलपर ज्ञान का आविर्भाव होगा। तत्पश्चात् मनुष्यत्व प्राप्त अमरत्वदेह सम्पन्न विवेकवान् कर्मोसमूह का दायित्व प्रारंभ होगा। जबतक विज्ञान अवतरित नहीं होगा, तबतक मनुष्यत्व का कार्य पूर्ण नहीं होगा। ज्ञानराज्य का ऐश्वर्य है—मनुष्यत्व। यह मनोमय है। किन्तु विज्ञान राज्य इससे अतीत है—वह है प्राणमय। विज्ञान की प्रतिष्ठा होनेपर मनुष्यत्व कृतकृत्य होगा। तभी परिपूर्णस्वरूपा अखण्ड मां की प्राप्ति होगी। मां की प्राप्ति के पश्चात् क्षण का गुप्त रहस्य उद्‌घाटित होगा। इसके पूर्व क्षण का रहस्य उद्‌घाटित होने की कोई संभावना नहीं है। भाषा द्वारा क्षण की महिमा व्यक्त कर सकना दुष्कर है। वह आलोक नहीं है। एवं अन्धकार भी नहीं है। उसका अस्तित्व "मां" में भी नहीं है। मां में भी इसका संधान नहीं मिलता। क्षण का पता कहीं भी नहीं मिलता। यह न तो साकार है न निराकार। "है" कहिये तो इसकी धारणा नहीं होती, "नहीं" कहिये तो इसकी अस्वीकृति नहीं होती। जो विज्ञानवित् हैं, वे ही इसका उद्‌घाटन करने में समर्थ हैं। विज्ञान पर्यन्त स्थिति न होने तक, क्षण का अस्तित्वज्ञान, महायोगी के लिये भी अगम्य है।

इस समय प्रधान कर्त्तव्य है "मां" को पुकारना। किंबहुना, मनुष्यत्व प्राप्ति के पश्चात् भी "मां" ध्वनि प्रयोजनीय है। कारण, उस समय का यही अभीप्सित कर्म है। विश्व संसार में सभी को एक समय "मां" कहकर पुकारना होगा, एवं मनुष्य की महामंण्डली को (Fedration of Mankind) इस महाकर्म में योग देना होगा। विश्व-पूर्णत्वलाभ के पथपर चल रहा है। कोई भी इसमें गतिरोध नहीं कर सकता। इस महा-कर्म से पृथक् रहना, मनुष्य मात्र के लिये असंभव है विज्ञानावतरण न होने तक, प्रत्येक मानव को, प्रत्येक केन्द्र से "मां" ध्वनि उत्थित करनी होगी। स्वेच्छा से पुकारना—अपने लिये एवं गुरु कर्म के लिये मंगलमय होगा। अन्यथा विज्ञानातरण में कुछ कालक्षेप की संभावना है। जो अवश्यंम्भावी हैं, उसका गतिरोध कोई भी नहीं कर सकता।

"माँ" को पुकारे विना जीवत्व का कलंक दूर नहीं होगा। शिशु अपने जन्मोपरान्त सर्वप्रथम मातृभाव से परिचय प्राप्त करता है। अन्य भाव ज्ञानवृद्धि के साथ-साथ वृद्धिगत होते हैं। सव भावों की परीक्षा में उत्तीर्ण होना होता है। कोई भी भाव क्यों न हों, जहाँ ज्ञान का उदय हुआ है, वहाँ उसे परीक्षा द्वारा निर्मल, शुद्ध रूप वनाना होगा। अभिमान प्रभाव के वशीभूत जीव के लिये यह स्वाभाविक है। स्वयं में विचार बुद्धि है, एतदर्थ वाह्यतः किसी विचारक के सम्मुख उपस्थित होना पड़ता है। लेकिन शिशु है ज्ञानहीन एवं निर्विचार। अतः उसके ऊपर विचारक दृष्टिपात नहीं करता। शिशु की परीक्षा नहीं ली जाती। शिशु-एकमात्र "माँ" को पहचानता है। वह जगत में अन्य कुछ भी पहचानने में असमर्थ है। पाप, पुण्य, दुःख, सुख, अपना अभाव, शिकायत, कुछ भी नहीं जानता। वह "माँ" की चिन्ता में विभोर रहता है। माँ का स्वरुप उसे अवगत नहीं। फिर भी उसे ज्ञात है "माँ ही उसकी सर्वस्व हैं।" सभी अवस्थाओं में एकामात्र "माँ" का मुखापेक्षी है। उसके जीवन का समस्त कल्याण विधान "माँ का दायित्व है। प्रयोजनानुसार "माँ" उसका समस्त अभाव दूर करती हैं। शिशु की अनकही, अप्रकाशित व्यथा भी माँ का हृदय चंचल कर देती है।

अखण्ड माँ की भी यही इच्छा है। ज्ञानी, भक्त, कर्मी प्रभृति के अभिनय में जीव ने वहुत समय व्यर्थ किया है। इस समस्त अभिनय से वह शान्ति अथवा आनन्द प्राप्ति करने में असमर्थ है। उसे मनुष्यत्व तक का वर्जन करना पड़ा। मनुष्य योनि में प्रसूत होने पर मनुष्यत्व प्राप्ति उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। आज मनुष्य अपने जन्मसिद्ध अधिकार से भी वंचित है।

ऐहिक मान-मर्यादा, धन, जन, यश, प्रतिष्ठा, ज्ञान, भक्ति प्रभृति अलीक स्वप्नमात्र रुप प्रतीत हो रहे हैं। ये सव मृत्यु के कराल ग्रास में विध्वस्त हो जाते हैं। मरणान्त में स्वर्ग अथवा विभिन्न लोकों में गति अथवा अवस्थान का कोई मूल्य नहीं। कहीं भी वोध का उदय नहीं होता। निर्वाण, कैवल्य, मुक्ति इत्यादि वास्तविक पूर्णत्व नहीं। कारण पूर्णत्व प्राप्ति के लिये आवश्यक है मनुष्यत्व का सार्वभौम विकास। अतः कोई भी पूर्णत्व प्राप्ति नहीं कर सका। खण्ड स्थान का पथ जगत् विदित है। अखण्ड पथ का सान्निध्य अनुभूत नहीं होता। कारण अखण्ड पथ में अनेक की अवहेलना कर, एक की प्रतिष्ठा नहीं की जाती।

जो जिस सम्प्रदाय के अनुयायी हैं—वे अपने संप्रदाय में रहकर मां को पुकार सकते हैं। किसी भी उपासना धारा के साथ अखण्ड मातृसत्ता का विरोध नहीं है। शाक्तजन खण्डशक्ति की उपासना करते हैं। रुचि एवं अधिकार भेद

वश, विभिन्न नाम एवं रूप की सहायता से जिस किसी भी देवी की उपासना (मातृभाव से) क्यों न की जाये, वह खण्ड मां की उपासना है। अखण्ड मां की उपासना नहीं है। खण्ड मां को पुकारने से अखण्ड "मां" को पुकारने जैसा फल नहीं मिलेगा। खण्ड मां शक्ति रूपा है। अखण्ड मां शक्ति रूपा नहीं है। वस्तुतः वे शक्ति, शिव, पुरुष, प्रकृति, कुछ भी नहीं है। वे मात्र मां हैं। खण्ड देवतागण की अर्चना भी अखण्ड मां की अर्चना नहीं है। यहां शिव, विष्णु, गणेश, प्रभृति देवता, का विरोध नहीं है। किसी भी देवता की अर्चना में अखण्ड मातृभाव का योग हो सकता है। वस्तुतः अखण्ड मातृभाव, ब्रह्मभाव से भी परे—अतीत है। चेतन—अचेतन उभय सत्ता इसी के अन्तर्गत हैं। कल्पना एवं भावना द्वारा अखण्ड मां की मूर्ति का गठन नहीं होता। कल्पनातीता वस्तु, कभी भी कल्पना से प्रकाशित नहीं होती। शिशु के लिये, ("मां" ध्वनि द्वारा) मां की प्राप्ति का उपाय सहज है। इसमें शौच, अशौच, चित्तविक्षिप्तता, एकाग्रता, नियम-बन्धन, विधि-निषेध का कोई प्रयोजन नहीं। प्रत्येक मनुष्य सन्तानत्व का अधिकारी है। इसके लिये योग्यता का विचार अनावश्यक है। अशुचि एवं अपवित्रभाव का संशोधन मां करेंगी। शिशुभाव के अतिरिक्त अन्य भाव का अवलम्बन योग्यता एवं अयोग्यता का विमर्श उत्पन्न करता है। आप जिस किसी की उपासना करते रहिये, अखण्ड 'मां' को पुकारने का फल अवश्य मिलेगा। वे जीव की मां है। पुरुषोत्तम की भी जननी स्वरूपा होते हुये दीन दरिद्र की मां है। परम ऐश्वर्यमण्डित परमेश्वर भी इन्हीं की सन्तान हैं। इनको पुकारने में कोई भी साधक तनिक भी, लेशमात्र संकोच न करे। यहाँ शाक्त वैष्णव का कोई विरोध नहीं। इस स्थल पर शिशुभाव का निर्देश है, जहाँ सारे भेद अस्तमित हैं।

यही कारण है, आजतक काल का अवसान नहीं हो सका। जब तक जगत् में पूर्णवस्तु आत्मप्रकाश नहीं करेगी तब तक समस्त जीव परिपूर्ण नहीं हो सकेंगे।

अब समय अवशिष्ट नहीं रहा। विश्वव्यापी संहारकाल आसन्न होकर सम्मुख दण्डायमान है। अब कर्म संपूर्ण हो चुका है, अतः काल स्थित नहीं रह सकेगा। जीव के कर्मफल एवं कर्म का आश्रय लेकर काल वर्त्तमान है। कर्मवृद्धि के साथ-साथ काल प्रवल होता है। अब जीवकर्म का क्षय हो चुका है, अतः काल प्रभाव के अस्तमित होने का समय आसन्न है। एकमात्र शिशु ही इस विश्वव्यापी संहार का रोध कर सकने में समर्थ है। जो "मां" का उच्चारण कर सकेगा—वही शिशु है। जितनी व्यापक "मां" ध्वनि का सम्पादन होगा, काल की संहार शक्ति उतनी ही मंद होगी। पुकार का प्रयोजन, समय पर, सबको विदित होगा। जो भी पुकारेगा—चाहे जिस भाव से पुकारे, शुचि—अशुचि, श्रद्धा-अश्रद्धा, विश्वास—संशय, प्रभृति

में से किसी का भी प्रयोग करते हुये पुकारे, सभी पुकारने वाले मृत्यु से परित्राण प्राप्त करेंगे। उन्हें अमरत्व की प्राप्ति होगी। तब रक्तमय स्थूल देह स्थायी हो जायेगी। खण्ड मन, अखण्ड मन एवं अखण्ड प्राण से युक्त होगा। मृत्युभूमि (मृत्युलोक) एवं अमरभूमि (अमरलोक) सम्मिलित होंगी, मररूपी, मरणधर्मा मनुष्य में–मनुष्यत्व रूपी परमवस्तु उदित होगी।

श्रीगुरु की इच्छा थी अखण्ड-ब्रह्मराज्य स्थापना करना। तभी "म" में आकार योजनकर "मां" का उद्भव हो सकेगा। निराकार 'म' से काल का जनन होता है। साकार "मां" से काल का विनाश संभव होगा। होगा अवश्य किन्तु कब? जब शिशु होकर 'मां' को पुकारना आयेगा "मां" का उद्भव होते ही काल की स्वतंत्रता लुप्त हो गई है। काल वशीभूत है। लेकिन अभी भी काल का अवसान नहीं हो सका, एवं नष्ट भी नहीं हुआ। जब इस शुभ समय का आगमन होगा तब यह देहरूप मरभूमि, चैतन्यमय से युक्त होगी। सब को एक प्रकार का चैतन्य लाभ होने पर अखण्ड ब्रह्मराज्य की स्थापना होगी। जब तक काल की सृष्टि समाप्त नहीं होगी तब तक ऐसा होना असम्भव है। हमारी देह काल की सृष्टि है। स्वकर्म के अभाव में कोई भी इसका उद्धार कर सकने में समर्थ नहीं। जीव का एकमात्र स्वकर्म है "मां" उच्चारण। सबको यह कार्य स्वयं करना होगा। किसी को प्रतिनिधि या पुरोहित बनाकर यह कार्य नहीं कराया जा सकता। एक व्यक्ति स्वकर्म द्वारा अन्य का कल्याण साधन करा सकते हैं, किन्तु देह सम्बन्ध में यह नियम व्यर्थ है। यदि देह स्वयं कर्म न करे तो विश्वव्यापी संहार से उसकी रक्षा कर सकना दुष्कर है। उसका पतन अवश्यं-भावी है। यह सत्य है कि आत्मा देह से वियुक्त होकर आनन्दमय होगी एवं स्थिरता प्राप्त करेगी। किन्तु देहपात के पश्चात यह स्थान अन्धकाराच्छन्न रह जायेगा।

किन्तु देह चैतन्यता से यह आशंका समाप्त होगी। अखण्ड चैतन्य राज्य, वास्तव में अखण्ड एवं निष्कलंक राज्य होगा। प्रलय से देह की रक्षा का एकमात्र उपाय है—मां को पुकारना। "मां" ध्वनि से मां के साथ योगस्थापना होगी, एवं काल का अवसान होगा।

जीव में यह क्षमता नहीं की अखण्ड ब्रह्मराज्य की स्थापना कर सके। कारण, जन्म के साथ ही पुरुषांग का सूक्ष्म पर्दा फट जाता है एवं देह में काम की क्रिया प्रारंभ हो जाती है। अक्षत ब्रह्मचर्य बिना रक्तजय असंभव है। जिस आधार की सहायता से यह महाकर्म उद्यापित होगा वह जीवधार नहीं है। वही अक्षुण्ण ब्रह्मराज्य की रक्षा करने में समर्थ है। श्रीगुरु ने विश्वकल्याण साधन के लिये लोकोत्तर सत्ता सम्पन्न होकर मर-भाव की वेष्ठनी में इस आधार का गठन किया था। अब जीव

मात्र "मां" पुकार द्वारा योगलाभ कर सकेगा। अक्षत् ब्रह्मचर्य के अभाव में भी योगलाभ में कोई अन्तराय नहीं होगा।

समष्टिमन का गठन करने के लिये, अखण्ड ब्रह्मतेज की आवश्यकता थी; उसका गठन निर्विघ्न रूप से सम्पन्न हो गया। अब जीव के लिये कर्त्तव्य है "मां" कहकर पुकारना। न पुकाने पर योगलाभ दुष्कर है। अर्थात् जो पुकारेगा, वही बोध सम्पन्न होगा। उसी का मन चैतन्यमय होगा। इसी का नाम है मनुष्यत्व।

अखण्ड ब्रह्मराज्य, विज्ञानमय जगत का नामान्तर है। इसी का नाम है— सूर्य विज्ञान, जिसके लिये श्रीगुरु जगत में अवतीर्ण हुये थे। यह काल में अवतरित नहीं होता। अतः काल की समाप्ति अनिवार्य है। काल राज्य नियति के अधीन है। नियतिलंघन का सामर्थ किसी में नहीं। ईश्वर एवं देवतागण भी नियति लंघन नहीं कर सकते। विज्ञानमय जगत् नियति बंधन से परे हैं। यह पूर्ण स्वातंत्र्य एवं अप्रतिहत् स्वाधीनता का राज्य है। काल ज्ञान स्वरूप है किन्तु विज्ञान उससे भी अतीत है। वास्तव में पुरुषाकार (ॐ) काल के अतीत है, उससे अतीत है विश्व प्रकृति एवं सबसे उर्ध्व है मां। प्रणवरूपी पुरुषाकार, प्रकृति एवं मां इन तीन का मिलन, विज्ञान रूप में परिणत होगा।

विश्वदर्शन काल से होता है, विज्ञान से भी होता है। किन्तु प्रतीति अनुभव में विभिन्नता है। काल में जो दर्शन होता है, वह मात्र दर्शनाभास है। उससे साक्षात्कार नहीं हो सकता। काल में विश्वदर्शन चित्र के समान, दर्पणस्थ प्रतिविम्ब के समान होता है। वह है आकृति की छाया। विज्ञान का दर्शन वास्तविक दर्शन है। इसमें आकृति एवं प्रकृति दोनों में अभिन्न भाव है। विज्ञान के दर्शन में मन का व्यष्टिभाव नहीं रहता। मन समष्टि रूप हो स्वयं में स्वयं का दर्शन प्राप्त करता है। वह द्रष्टा ही नहीं रहता, स्वयमेव दृश्यरूप भी हो जाता है। दृश्य है यह मरदेह। दृश्यमान प्राकृतिक वस्तु में कुछ चेतना भी है। वह है मनोहीन चेतना। तभी उसमें जड़भाव की प्रधानता परिलक्षित होती हैं। विज्ञान में जड़भाव का प्राधान्य नहीं होता। तब सब कुछ प्रकाशित रहता है अप्रकाशरूप स्थिति का अत्यंताभाव हो जाता है।

वास्तव में मनुष्य विज्ञान की कामना करता है। कारण आत्मबोध ही प्रकृत मनुष्यत्व है। इसकी संप्राप्ति हेतु देवगण नरदेह धारण करते हैं। मनुष्य देह धारण करने पर भी, मनुष्योचित् दिव्यलक्ष्य के अभाव में सारा जीवन व्यर्थ जा रहा है। कारण यह कालराज्य में दृश्य देख रहा है। वास्तव में छवि देखते-देखते पूर्ण वस्तु का प्रकाश हो सकता है। तथापि यह जीवित् काल में ही होगा। देहत्याग के पश्चात्

चिन्मय शरीर सूर्य की ओर गतिमान होता है। सत्य तो यह है कि सूर्य ही मनुष्य जीवन का सर्वस्त्र है। सूर्य से जीव आता है पुनः सूर्य में चला जाता है। केवल स्थितिकाल में, अर्थात् मध्यावस्था में, चन्द्र से (मन से) सृष्टि होती है। जिस देह की रचना होती है, वह अंत तक गतिमान नहीं, अतः सूर्य के साथ युक्त हो सकने में असमर्थ है। अब तक पृथ्वी पर कोई भी नरदेहधारी मन को आयत्त न कर सका।

मन की प्राप्ति के लिये रक्तमांस युक्त मनुष्य देह आवश्यक है। सभी मनुष्य अपने मन को प्यार करते हैं। विज्ञानरूपी सूर्य ने (प्राण ने) उसे प्राप्त कर लिया है। यह प्राण-काल से विनष्ट नहीं होता, वरन् काल को विनष्ट करता है। काल का विनाश करने के लिये काल के भीतर (देहावस्था काल में), काल द्वारा आयत्त कर्म का अनुष्ठान आवश्यक है। जिनकी देह रक्तमांस युक्त (नरदेह रूप) है, एवं जिन्हें मरभाव विक्षिप्त नहीं करता, कर्म शक्ति उन्हें ही प्राप्त होती है।

इस प्रकार की अक्षत देह, विशुद्ध सृष्टिकाल में ही अवतीर्ण हो गई है। प्राण एवं मन की एकीभूत अवस्था आयत्त कर, उसे प्रतिजीव के कण-कण में बाँट कर, योग स्थापना हेतु (स्वयं शक्तिमान होकर) विशुद्ध सत्ता ने तपस्या प्रारम्भ की। कारण वे भी काल से ही उत्पन्न हुये थे। योगी द्वारा जनित नहीं थे। उनके रूप में काल की सृष्टि—योगीरूप आविर्भूत हुई। अतः उन्हें क्षण की प्राप्ति हो सकी।

सूर्यमय विज्ञानराज्य की परमशक्ति का नाम है क्षण। योगी के अतिरिक्त, इसकी उपलब्धि असम्भव है। क्षण की गति तीव्रतम है। वह मन का भेद करने में सक्षम है। क्षण आयत्त करने के लिये, उन्हें (योगी रूप से) साधारण देह का वरण करना पड़ा। इस प्रकार की साधारण देह का जागरण, एकमात्र क्षण द्वारा सम्भव है। क्षण धारण बिना साधना की समाप्ति नहीं होगी। क्षण धारण की अयोग्यतावश कोई भी देवता अपनी साधना समाप्त न कर सका। मात्र क्षणधारण से, इस कर्म भूमि का कर्म समाप्त होगा। प्रकृति की मृत्युरूप रात्रि में मध्यसमय, एवं महा महाक्षण, अति तीव्र हैं। लक्ष्य सम्पन्न एकाग्रता से इसे धारण करना आवश्यक है। इस धारणा कर्म से क्षण आयत्त होगा। मन, देह एवं कर्म इन तीनों के एकत्रीकरण द्वारा किसी पदार्थ पर दृष्टि निरुद्ध करने से क्षण आविर्भूत होता है। यह कार्य साधारण जीव के लिये दुर्घट हैं। कारण ये दीर्घकालीन चेष्टा द्वारा एकाग्र एवं एकीभूत होंगे। मन (जीव का) निजस्व नहीं है। अतः मन का कर्म इसका समापन करने में समर्थ नहीं। अतः जीवातीत भूमि से जीवभूमि में उपनीत होकर विशुद्ध सत्ता ने इस कार्य का समापन किया। मन के साधक की स्वरूप चिन्ता, सामान्य जीव नहीं कर सकता, न तो प्रयोजन ही है। पृथ्वी के जीव "माँ" पुकार कर भोगाधिकार प्राप्त करेंगे एवं

भोग द्वारा भोग संतृप्त होकर कर्म समापन साधन द्वारा महाविज्ञान तत्व की उपलब्धि कर सकेंगे।

आज पर्यन्त पृथ्वी के जीव उस महान् वस्तु की उपलब्धि से वंचित हैं। उनकी धारणा थी—चैतन्य प्राप्ति से सब प्राप्त होता है। एवं कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। कोई यह नहीं जान सका कि मनुष्यत्व प्राप्त कर पूर्ण बोध के साथ चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठा लाभ करना अर्थात् विज्ञान की उपलब्धि करना आवश्यक है। यदि पृथ्वी के जीव, पृथ्वी का ही वैषिष्ठ न प्राप्त कर सके, तो विज्ञान का सन्धान कैसे हो पायेगा? जो विज्ञान का अन्वेषण करता है—वह कभी भी अन्धकार त्यागकर आलोक की ओर धावमान नहीं होता। वह अन्धकार के लिये प्रस्तुत रहता है, एवं स्वयं अन्धकार में रहकर, अन्धकार को पूर्ण आलोक रूप में विकसित करता है। यही है मनुष्य जीवन का वास्तविक उद्देश्य।

पृथ्वी के जीवों द्वारा अवतरण का लक्ष्य करने के लिये, एवं मनुष्यत्व प्राप्त कर महाविज्ञान मार्ग पर अग्रसर होने के लिये, अभी से "माँ" उच्चारण करना आवश्यक है। केवल मात्र पुकारना कर्त्तव्य है। स्वयं पुकार कर, सबको 'माँ" उच्चारण का संदेश देना होगा। वर्तमान में यही मनुष्य मात्र का कर्म है। आशा करता हूँ सभी अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक होंगे। मुझे इससे अधिक कुछ नहीं कहना है।

★

[पृष्ठ viii का शेषांश]

इन्होंने पूज्य कविराज जी के अन्य अप्रकाशित ग्रन्थों के प्रकाशन का व्यय भार वहन करने हेतु वचन दिया है। अतः मैं इन्हें शतशः धन्यवाद देता हूँ।

× × ×

विना उपयुक्त क्षण के अनुवाद कार्य प्रारंभ करने पर नाना विघ्न एवं अन्तराय उपस्थित होते गये, अतः मेरे परममित्र एवं दादाजी के प्रथम शिष्य शिल्पकर्म प्रवीण श्री रामचन्द्र जी विश्वकर्मा ज्योतिषार्णव ने इस कार्य के लिये स्वयं को प्रस्तुत किया। इन पर पूज्य कविराज जी की अतीव कृपा रहती थी। जिसका देह एवं मन संस्कृत है वही यथार्थतः शिल्पी है। उसे ही आत्म संस्कृतिरूप शिल्प का संवाद मिलता है। जो शिल्पकर्म द्वारा मन एवं देह को छन्दोमय बनाता है वही यथार्थ शिल्पी है।

"शिल्पानिशंसन्ति देवशिल्पान्येतेषां वै
शिल्पानामनुकृतीह शिल्पं मधिगम्यते ॥
आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानिच्छन्दोमयं
वा एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते ॥"

(एतरेय ब्राह्मण)

इन्होंने क्षणशोधन कर्म द्वारा मध्यमेश्वर स्थित एक गुह्य स्थल पर उपयुक्त समय का संकेत दिया जहाँ से यह अनुवाद कार्य प्रारंभ हुआ। मैं इस कार्य के लिये इन्हें सादर धन्यवाद देता हूँ। कारण इससे मेरा स्वयं का दुर्घट परिश्रम बच गया।

× × ×

मैं इन पंक्तियों द्वारा यह अनुवाद प्रस्तुति परम पूज्य कविराज जी को अर्पित करता हूँ। उनके ही द्वारा प्राप्त इस पुष्प को उनके ही श्रीचरणों पर उत्सर्ग करता हूँ। यह उनकी पूजा नहीं अपितु समग्र सृष्टि की पूजा है, कारण वे इस सृष्टि के कण-कण में विराज रहे हैं।

कार्तिक पूर्णिमा १९७८

निवेदक—
एस० एन० खण्डेलवाल